वर्ष ४१] * * * [अङ्क ७

CC-0. Digitized by eGangotri, Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,५०,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर श्रावण २०२४, जुलाई १९६७

विषय	पृष्ठ-संख्या
१—जय शंकर-गौरी-गणपति [कविता]	१०२५
२—कल्याण ('शिव')	१०२६
३—संतों-महापुरुषोंकी महिमा (ब्रह्मलीन पूज्यपाद अनन्तश्रीविभूषित श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके वचनामृत; संकलनकर्ता—श्रीशालिग्राम)	१०२७
४—मनन-माला (ब्र० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)	१०२९
५—पुरुषार्थ (अनन्तश्री स्वामीजी श्रीअखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज)	१०३२
६—महर्षि कृष्णद्वैपायन क्या ब्रह्मसूत्रकर्ता बादरायण हैं ? (श्रीनीरजाकान्त चौधरी देवशर्मा)	१०३६
७—प्रीति किससे करनी चाहिये ? [कविता] (संत कबीर)	१०४१
८—भक्ति पञ्चम पुरुषार्थ [कहानी] (श्री'चक्र')	१०४२
९—रस (प्रेम)-साधनकी विलक्षणता (गीताभवनमें हनुमानप्रसाद पोद्दारके एक प्रवचनके आधारपर)	१०४५
१०—अखण्ड आनन्दकी उपलब्धि (डा० श्रीनरेन्द्रकुमारजी सेठी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, संचालक, भारतकेन्द्र, न्यूयार्क, १९६६)	१०५४
११—ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती	१०५५
१२—सर्वत्र सबमें भगवान् [कविता]	१०५६
१३—'क्लैब्यं मा स्म गमः' (डॉ० गणेश खरे, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, पी-एच्० डी०)	१०५७
१४—भारतीय संस्कृतिका एक आवश्यक अङ्ग—गोरक्षा (श्रीअगरचन्दजी नाहटा)	१०५९
१५—दक्षिण भारतकी तीर्थयात्रा (सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती रत्नकुमारी देवी, श्रीगोविन्दप्रसादजी श्रीवास्तव)	१०६२
१६—धर्म और विश्वशान्ति (श्रीबिरधीलालजी सेठी)	१०६९
१७—प्राचीन भारतकी लोकतान्त्रिक व्यवस्था (श्रीगोवर्धनलालजी पुरोहित, एम्० ए०)	१०७२
१८—श्रीगोपाङ्गनाओंका विशुद्ध प्रेम (श्रीरामचरणजी हयारण 'मित्र', साहित्यशिरोमणि)	१०७५
१९—स्वप्नकी परिणति (श्रीरामपुनीतजी श्रीवास्तव, एम्० ए०)	१०७८
२०—कामके पत्र	१०७९
२१—पवित्र अन्तःकरण ही सर्वश्रेष्ठ तीर्थ है (श्रीगोवर्धननाथजी कक्कड़)	१०८१
२२—पढ़ो, समझो और करो	१०८३
२३—रसभरी राधिका [कविता] (श्रीहरिव्यास देवाचार्यजी)	१०८८

चित्र-सूची

१—गोप्रेमी गोपाल	(रेखाचित्र)	मुखपृष्ठ
२—गौरी-शंकर-गणपति	(तिरंगा)	१०२५

वार्षिक मूल्य
भारतमें ८.५०
विदेशमें १५.६०
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत-चित-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ५० पै०
विदेशमें ८० पै०
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection

गौरी-शंकर-गणपति

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

अविरतभवभावनातिदूरं भवविमुखैर्मुनिभिः सदैव दृश्यम् ।
भवजलधिसुतारणाङ्घ्रिपोतं शरणमहं रघुनन्दनं प्रपद्ये ॥
रतिपतिशतकोटिसुन्दराङ्गं शतपथगोचरभावनाविदूरम् ।
यतिपतिहृदये सदा विभातं रघुपतिमार्तिहरं प्रभुं प्रपद्ये ॥

वर्ष ४१ | गोरखपुर, सौर श्रावण २०२४, जुलाई १९६७ | संख्या ७ पूर्ण संख्या ४८८

जय शंकर-गौरी-गणपति

जय जय शंकर शूल-डमरुधर, जटा-जूटधर व्याली ।
जय कैलास-निवासी त्रिनयन, जय रुद्राक्ष-सुमाली ॥
जय गौरी जगजननि पार्वती, जयति दुरित-दुखहारी ।
जय गणपति मूषकवाहन, जय विघ्नहरण सुखकारी ॥

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

कल्याण

याद रक्खो—सर्वत्र प्रभुकी ही सत्ता, शक्ति, विभूति फैली हुई है। सब प्रभुकी ही अभिव्यक्ति है, अतएव ऐसा अनुभव करो कि तुम्हारे अंदर नित्य-निरन्तर प्रभुकी सत्ता, शक्ति और विभूति भरी है। सदा इस सत्यके दर्शन करो।

याद रक्खो—तुम्हारे जीवनमें सदा-सर्वदा निरन्तर प्रभुका अत्यन्त मधुर संगीत बज रहा है, ऐसा अनुभव करनेपर तुम किसी भी स्थितिमें रूक्षता तथा भयका अनुभव नहीं करोगे।

याद रक्खो—प्रभुके साथ नित्य सत्य सम्बन्धकी अनुभूति हो जानेपर अहंता तथा ममताके—'मैं' तथा 'मेरे' के सारे पदार्थ बनें या बिगड़ें, जीयें या मरें, उससे तुम्हारा न कुछ बिगड़ेगा, न तुम्हें सुख-दुःख ही होंगे। तुम नित्य हरहालतमें परमानन्दमें निमग्न रहोगे।

याद रक्खो—यहाँ जो कुछ है और जो कुछ होता है, सब प्रभु हैं और प्रभुकी लीला है। प्रभु स्वयं ही सारी लीला बनकर लीलायमान होते हैं। अतएव लीलामयमें और उनकी लीलामें कोई भेद नहीं है, दोनों एक ही हैं। वे ही निरन्तर तुम्हारे भीतर-बाहर बसे हुए लीला करते रहते हैं।

याद रक्खो—जो नित्य-निरन्तर बाहर और भीतर केवल उन प्रभुको ही देखता है, वह वास्तवमें उन्हींमें निवास करता है और भगवान् तो उसमें हैं ही। वे सदा हैं, सर्वथा हैं, सर्वत्र हैं। वे ही अत्यन्त दूर हैं और वे ही अत्यन्त समीप हैं। उनके सिवा कुछ भी अन्य है नहीं।

याद रक्खो—मिथ्या मोह तथा भ्रमसे ही प्राकृतिक पदार्थोंमें तुम उनकी सत्ता, शक्ति तथा विभूति मानकर उनका सेवन करते हो और इसीसे बार-बार घोर अशान्तिका अनुभव करते हो। इसी भ्रमके कारण तुम शोक, भय, विषादका अनुभव करते हो और इसी भ्रमसे तुम दिन-रात अहंता-ममता, वासना-कामना, आसक्ति-लोभ तथा क्रोध-हिंसाकी अग्निमें अनवरत जलते रहते हो।

याद रक्खो—एक प्रभुकी सत्ता ही नित्य सत्य है, प्रभु ही सत्यस्वरूप हैं। उन्हींको सदा-सर्वदा देखना तथा उन्हींमें सदा-सर्वदा अपनेको मिलाये रखना चाहिये। उन्हींका सदा आश्रय करना चाहिये। वे ही सारी शान्ति, आनन्द तथा आत्यन्तिक सुखके एकमात्र मूल स्रोत हैं; वे ही निर्मल शान्ति-सुखके अनन्त समुद्र हैं। तुम अपने जीवनमें नित्य उन्हीं आत्यन्तिक शान्ति तथा आत्यन्तिक सुख-स्वरूप भगवान्‌से चिपटे रहो। एक क्षणके लिये भी उनसे विलग होनेकी कल्पनातक मत करो।

याद रक्खो—उन प्रभुको कहींसे आना नहीं है। वे सदा सर्वत्र वर्तमान हैं। ऐसा कोई देश-काल-वस्तु है ही नहीं, जिसमें वे न हों। उन्हींकी सत्तासे सबकी सत्ता है, उन्हींकी शक्तिसे सब शक्तिमान् हैं, उन्हींकी विभूतिसे सबमें विभूति है।

याद रक्खो—प्राकृतिक पदार्थ बनने तथा नष्ट होनेवाले हैं। इनका सृजन-संहार होता रहता है। प्रकृतिकी प्रत्येक वस्तु अनित्य और अपूर्ण है। परंतु भगवान् अनादि, अनन्त, नित्य वर्तमान हैं। वे सदा स्वरूपसे ही परिपूर्ण हैं। तुम उन्हींका आश्रय करो। उन्हींकी सत्तामें अपनी सत्ताको मिला दो।

'शिव'

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

संतों—महापुरुषोंकी महिमा

(ब्रह्मलीन पूज्यपाद अनन्तश्रीविभूषित श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके वचनामृत)

पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥

पुण्यपुञ्ज यानी पूर्वके महान् शुभ संस्कारोंके संग्रहसे ही महापुरुषोंका सङ्ग मिलता है। ऐसे सत्सङ्गका फल संसारके आवागमनसे यानी जन्म-मरणसे सर्वथा छूट जाना है। महात्माके सङ्गसे जैसा लाभ होता है, वैसा लाभ संसारके किसीके भी सङ्गसे नहीं हो सकता। संसारमें लोग पारसकी प्राप्तिको बड़ा लाभ मानते हैं, परंतु सत्सङ्गका लाभ तो बहुत ही विलक्षण है। कविकी उक्ति है—

पारस में अरु संत में बहुत अंतरो जान।
वह लोहा सोना करै, यह करै आपु समान॥

पारस और संतमें बहुत भेद है। पारस लोहेको सोना बना सकता है, परंतु पारस नहीं बना सकता; किंतु संत-महात्मा पुरुष तो सङ्ग करनेवालेको अपने समान ही संत-महात्मा बना देते हैं। इसलिये महात्माओंके सङ्गके समान संसारमें और कोई भी लाभ नहीं है। परम दुर्लभ परमात्माकी प्राप्ति महात्माओंके सङ्गसे अनायास ही हो जाती है। उच्चकोटिके अधिकारी महात्मा पुरुषोंके तो दर्शन, भाषण, स्पर्श और वार्तालापसे भी पापोंका नाश होकर मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिका पात्र बन जाता है। साधारण लाभ तो सङ्ग करनेवाले-मात्रको समान भावसे होता ही है, चाहे उसे महात्माका ज्ञान हो या न हो। महात्माका महत्त्व जान लेनेपर उनमें श्रद्धा होकर विशेष लाभ हो सकता है।

× × ×

जैसे किसी कमरेमें ढकी हुई अग्नि पड़ी है और उसका किसीको ज्ञान नहीं है, तब भी अग्निसे कमरेमें गरमी आ गयी है और शीत निवारण हो रहा है—यह सहज लाभ तो, वहाँ जो लोग हैं, उनको बिना जाने भी मिल रहा है। पर जब अग्निका ज्ञान हो जाता है, तब तो वह मनुष्य उस अग्निसे भोजन बनाकर खा सकता है और दीपक जलाकर उसके प्रकाशसे लाभ उठा सकता है। अग्निमें प्रकाशिका और विदाहिका—ये दो शक्तियाँ स्वाभाविक ही हैं। अग्निका ज्ञान होनेपर ही मनुष्य उसकी दोनों शक्तियोंसे लाभ उठा सकता है और यदि अग्निमें यह भाव हो जाता है कि अग्नि साक्षात् देवता है, तब तो वह उसमें पुत्र, धन, आरोग्य, कीर्ति आदि किसी कामनाकी पूर्तिके लिये श्रद्धा तथा विधिपूर्वक हवन करता है तो वह अपने मनोरथके अनुसार उससे लाभ उठा लेता है और यदि श्रद्धापूर्वक निष्काम भावसे, शास्त्रोक्त विधिसे हवन करता है तो वह पुरुष मुक्तिको भी प्राप्त कर लेता है। निष्कामभावपूर्वक यज्ञ करनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि हो जाती है और अन्तःकरणकी शुद्धि होनेसे स्वाभाविक ही परमात्माके तत्त्वका ज्ञान हो जाता है तथा तत्त्वज्ञानसे वह जीवन्मुक्त हो जाता है। इसी प्रकार किसीको महात्मा पुरुष मिलते हैं तो उनका ज्ञान न रहनेपर भी सामान्यभावसे तो लाभ होता ही है। जैसे ढकी हुई अग्निके द्वारा—गरमीके द्वारा—शीत निवारण होता जाता है, वैसे ही महात्माओंके मिलनेपर उनके गुणोंके स्वाभाविक प्रभावसे वातावरणकी शुद्धि होनेके कारण पाप-भावनाका अभाव तथा उनके गुणोंका आभास तो आ ही जाता है। महात्माओंमें उत्तम गुण, उत्तम आचरण और उत्तम भाव होते हैं; उनका ज्ञान भी उच्चकोटिका होता है। उनके सङ्गसे ये सब चीजें किसी-न-किसी अंशमें बिना जाने-पहचाने भी आ ही जाती हैं। यदि पहचान हो जाती है और महात्माके अलौकिक प्रभावका ज्ञान हो जाता है, तब तो वह, जैसा उसका ज्ञान होता है, उसके अनुसार लाभ उठा लेता है। जैसे अग्निकी विदाहिका और प्रकाशिका शक्तिका ज्ञान होनेपर अग्निका अर्थी पुरुष दोनों प्रकारके

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

लाभ उठा लेता है—विदाहिकासे भोजन बनानेका और प्रकाशिकासे अन्धकार नाश करके प्रकाश प्राप्त करनेका; वैसे ही महात्मामें जो 'सद्गुण' और 'उत्तम-आचरण'—ये दो वस्तुएँ स्वाभाविक ही हैं, उन दोनोंका ज्ञान होनेपर मनुष्य विशेष लाभ उठा सकता है।

× × ×

महात्माको जान लेनेसे यदि महात्मामें श्रद्धा हो जाती है तथा महात्माके इस प्रभावका भी ज्ञान हो जाता है कि महात्मा जो चाहे सो कर सकते हैं, तो संसारमें जो अल्प-बुद्धि सकामी पुरुष है, वह महात्माके द्वारा अपनी लौकिक इच्छाकी, सांसारिक कामनाओंकी पूर्ति कर लेता है। अवश्य ही यह बहुत नीची चीज है, महात्मा पुरुषोंसे संसारकी चीजें माँगना और सांसारिक भोगेच्छाकी पूर्ति करानेकी इच्छा करना वस्तुतः महात्माके वास्तविक प्रभाव तथा तत्त्वको न समझना और उनका दुरुपयोग करना ही है। किंतु जो महात्माको और उनके असली गुण-प्रभावको श्रद्धापूर्वक तत्त्वतः समझ जाता है, वह तो स्वयं महात्मा ही बन जाता है, यही यथार्थ लाभ है।

× × ×

जैसे भगवान् बिना ही कारण सबपर दया और प्रेम करते हैं, इसी प्रकार महापुरुष भी अहैतुक कृपा तथा प्रेम किया करते हैं। जैसे भगवान्में क्षमा, दया, शान्ति, संतोष, समता, सरलता, ज्ञान, वैराग्य आदि अनन्त गुण सहज होते हैं, वैसे ही महात्मामें भी होते हैं। जो ज्ञानके द्वारा ब्रह्मको प्राप्त होता है तथा ब्रह्म ही बन जाता है, वह तो परमात्मासे कोई अलग पदार्थ ही नहीं रह जाता। परमात्माका जो दिव्य स्वरूप, प्रभाव और गुण है, वही महात्माका 'महात्मापन' है। महात्माका शरीर तो महात्मा है नहीं और उसमें जो आत्मा है, वह परमात्माको प्राप्त हो जाता है, परमात्मासे भिन्न रहता नहीं, अतः परमात्माका जो दिव्य स्वरूप, प्रभाव एवं गुण है, वही 'महात्मापन' है।

× × ×

महात्मा पुरुष दिव्य ज्ञानकी एक विलक्षण ज्योति है, वह दिव्य ज्ञानज्योति समस्त पापोंको भस्म कर देती है। महात्मा यदि किसीको स्मरण कर लें या कोई महात्माका स्मरण कर ले तो उसके मनमें उनकी स्मृति हो जानेसे भी पाप नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार महात्माका स्पर्श प्राप्त हो जानेसे भी पाप नष्ट हो जाते हैं—चाहे महात्मा किसीको स्पर्श करें, चाहे महात्माका कोई स्पर्श कर ले। जैसे एक ओर अग्नि पड़ी हुई है और दूसरी ओर एक घासकी ढेरी है। अग्निकी चिनगारी उड़कर घासपर गिरती है तो घास जलकर अग्नि बन जाता है और घास उड़कर अग्निमें गिरती है तो भी घास अग्नि बन जाता है, अग्नि अग्नि ही रहती है। वैसे ही अग्निकी भाँति महात्माओंमें सदा ज्ञानाग्नि प्रज्वलित रहती है। उस ज्ञानाग्निके द्वारा महात्मा पुरुषोंके तो पाप पहले ही नष्ट हो चुके रहते हैं, किंतु जिसका उनके साथ किसी भी प्रकारका संसर्ग हो जाता है, उसके भी पाप नष्ट होते चले जाते हैं। फिर जो महात्माओंके साथ वार्तालाप करके उनके बताये हुए सिद्धान्तोंके अनुसार साधन करता है, उसका संसार-सागरसे उद्धार हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है।

× × ×

महात्माओंकी महिमा जितनी भी गायी जाय, थोड़ी ही है, जैसे गङ्गाजीकी महिमा जितनी गायी जाय, उतनी थोड़ी है। गङ्गा सारे संसारका उद्धार कर सकती है; किंतु कोई यदि गङ्गामें स्नान करने ही न जाय, गङ्गा-जलपान करे ही नहीं, तो इसमें गङ्गाजीका क्या दोष है। इसी प्रकार कोई महापुरुषसे लाभ नहीं उठाये तो उसमें महापुरुषका कोई दोष नहीं।

× × ×

गङ्गाजीकी भाँति ही महात्मा पुरुष लाखों-करोड़ों पुरुषोंका उद्धार कर सकते हैं। उनके द्वारा सारे संसारके मनुष्योंका उद्धार होना भी कोई असम्भव तो है ही

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

नहीं, हाँ, कठिन अवश्य है; क्योंकि उनमें श्रद्धा हुए विना तो कल्याण हो नहीं सकता और श्रद्धा होना कठिन है ।

× × ×

वास्तवमें महात्माका आत्मा परमात्मासे अलग नहीं है, पर हम मानते नहीं, उसे परमात्मासे भिन्न समझते हैं; इसलिये हम परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित रहते हैं । यह समझना भी अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर ही होता है ।

× × ×

महापुरुषोंका रहस्य वास्तवमें महापुरुष बननेपर ही समझमें आता है । उनका उद्देश्य सर्वथा अलौकिक और अद्भुत होता है । उनका अपना तो कोई काम रहता ही नहीं । संसारमें उनका जो जीवन है यानी शरीरकी स्थिति है, त जो उनकी चेष्टा है, वह संसारके हितके लिये ही है । जैसे भगवान्‌का अवतार संसारके उद्धारके लिये ही होता है, वैसे ही महात्मा पुरुषोंका जीवन भी संसारके उद्धारके लिये ही है ।

× × ×

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये ।

(संकलनकर्ता—श्रीशालिगराम)

मनन-माला

(लेखक—ब्र० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)

[गताङ्क पृष्ठ ९६७ से आगे]

६५—अज्ञानके दूर हुए विना वासनाका नाश नहीं होता, अज्ञानका पर्दा—मायाका पर्दा दूर करनेके लिये मायापतिकी शरण लेना साधकके लिये बहुत जरूरी है । माया बलवान् है, परमात्माकी शक्ति है । उसको जीव अपनी अल्प शक्तिसे जीतनेमें कभी समर्थ नहीं होता । साधकको तो सर्वतोभावेन परमात्माकी शरणमें जाना चाहिये । जीवात्माका वास्तविक स्वरूप तो परमात्मा ही है । परंतु उसके वास्तविक स्वरूपको पहचाननेके लिये मायाका दूर होना जरूरी है और यह परमात्माके अधीन है । अतएव साधकको चाहिये कि नीचे लिखे गीताके अर्द्ध श्लोकका बारंबार भावपूर्वक उच्चारण करे—

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ।

अर्थात् मैं उस आदिपुरुष परमात्माकी ही शरणमें जाता हूँ, जिससे इस संसारकी प्रवृत्ति प्रारम्भ होती है ।

परमात्माकी शरण लिये विना परमात्माकी दया नहीं होती, परमात्माकी दयाके विना साधक लाखों उपाय करके भी मायाको नहीं जीत सकता, मायासे परे हुए विना कोटि उपाय करनेपर भी आत्मदर्शन नहीं होता, आत्मदर्शन हुए विना सारा मोह—अज्ञान कभी दूर नहीं होता, और उसके दूर हुए विना दुःखमात्रका नाश और परमानन्दकी प्राप्तिरूप मुक्ति मिलती नहीं ।

६६—इसलिये साधक अपने शरीरकी प्रकृतिके अनुसार आसक्ति, आग्रह तथा कर्म-फलका त्याग करके प्राप्त कर्मोंको करता रहे और उसका फल अच्छा होता है या बुरा—इसको देखे विना कर्त्तव्य समझकर करे । जो कुछ करे, कर्तव्य समझकर करे । पूरे उत्साहसे शान्त चित्तसे भली-भाँति करे । हर्ष-शोकरहित होकर करे । यह बात सहज ही सिद्ध नहीं होती, परंतु प्रयत्न करते-करते प्रभुकी कृपासे हो जायगी ।

६७—चित्तमेंसे चिन्ता, भय, राग और द्वेष निकाल-कर जो कुछ करना हो शान्त और समाहित चित्तसे करे । जिसके करनेसे मनमें चिन्ता हो, उद्वेग हो, भय हो, उस कामको कभी न करे ।

६८—परमात्मा सबमें है, अतएव जिसके सम्पर्कमें भी आये, उसके भीतर अवस्थित परमात्माकी सेवाके रूपमें उसके साथ बर्ताव करे । जब कोई सम्पर्कमें आये, तब यही एक विचार करे कि प्रभुकी इस वेषमें मुझसे क्या सेवा हो सकती है। इसका विचार करके कर्तव्य समझकर

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

भगवान्की पूजाके रूपमें क्रिया करे, इसको भगवत्पूजन या आत्म पूजन कहते हैं। यह पूजा स्त्रीके प्रति हो, बालकके प्रति हो, अथवा स्थावर-जङ्गम प्राणिमात्रके प्रति हो। प्राणिमात्रमें भूतमात्रमें भगवान् हैं—आत्मा है, अतएव भूतमात्रके प्रति की जानेवाली ही पूजा भगवत्पूजा—आत्म-पूजा है। अतएव किसी भी फलकी आकाङ्क्षा न करके यह पूजा करे। इस साधनासे सारे जीवनमें सब समय भगवत्पूजा या आत्मपूजा होगी और ऐसा करते-करते आत्मदर्शन हो जायगा।

६९—जगत्में दो आनन्द हैं—एक विषयानन्द और दूसरा आत्मानन्द। विषयानन्दका अनुभव मन और इन्द्रियोंसे होता है। आत्मानन्दका अनुभव वासनारहित शुद्ध बुद्धिसे होता है। अपने अतिरिक्त अन्य प्राणी-पदार्थसे जो आनन्द अनुभव होता है, वह विषयानन्द कहलाता है। और जिसमें दूसरे प्राणी-पदार्थकी जरूरत नहीं पड़ती, बल्कि स्वतः बिना किसी कारणके आनन्द अनुभव होता है, वह आत्मानन्द कहलाता है। विषयानन्द नाशवान् है, अल्प है और परिणामी है तथा दुःखदायी है। आत्मानन्द महान् है, शाश्वत है और अखण्ड सुखका दाता है। जन्म-मरणके चक्करसे छूटनेके हेतु विषयानन्दकी इच्छा-मात्रका त्याग करके आत्मानन्दका अभिलाषी बने और उसके लिये प्रयत्न करे। अतएव मन और इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग करके मन और इन्द्रियोंको स्वाधीन करके आत्मामें लगा दे।

७०—इसकी साधनाका सहज उपाय यह है कि परमात्माकी कोई दिव्य मनोहर मूर्ति या चित्र लेकर शास्त्रानुसार प्रेमसे, पूर्ण भावपूर्वक उपासना करे और जबतक मन केवल शान्त होकर आत्मानन्दका अनुभव नहीं करे, तबतक इसे चालू रक्खे, छोड़े नहीं, चाहे अपने-आप भले ही छूट जाय। यह उपासना मनको निर्विषय करनेमें बहुत ही सहायक है। बिना उपासनाके, लाखों उपाय करो, मन शान्त और वासनाहीन नहीं बन सकता।

७१—जबतक इच्छामात्रका त्याग नहीं हो जाता, तबतक उपासना करता रहे। लोकहित करनेकी इच्छा भी एक इच्छा है, वैकुण्ठ प्राप्त करने या दिव्य लोककी प्राप्तिकी इच्छा भी एक इच्छा है। मोक्षकी इच्छा भी इच्छा ही है। जबतक इच्छामात्रका त्याग न हो जाय और आत्मानन्दकी लहरोंका अनुभव न हो, तबतक उपासना कभी न छोड़े।

७२—मूर्ति-उपासना सुलभ है। जीवित प्राणीकी, गुरुकी अथवा किसी महापुरुषकी भी उपासना होती है; परंतु उसमें मन सदा स्थिर, एकरस श्रद्धासम्पन्न रहना कठिन है। श्रद्धाके बिना उपासना व्यर्थ है। उपासनाकी नींव ही श्रद्धा है। अतएव सगुण परमात्माकी कोई प्रतिमा या चित्र रखकर उपासना करनेसे शीघ्र लाभ होगा।

७३—मूर्ति या चित्रको एकटक देखा करे। एक अङ्गके ऊपर दृष्टि डाले रखनेपर आँख और मन थके तो दूसरे अङ्गके ऊपर दृष्टि जमाये। वहाँ भी थक जाय तो तीसरे अङ्गके ऊपर दृष्टि जमाये। और वहाँ भी थक जाय तो आँखको मूँद ले और आँख मूँदनेपर जो दीखे, उसे देखता रहे। फिर आँखें खोलकर मूर्ति या चित्रको देखे। इस प्रकार अभ्यास करता रहे। ऐसा करते समय मन अकुलाने लगे तो जप करे। इस प्रकार ध्यान और जप बारी-बारीसे करता रहे। ध्यानसे थके तो जप करे और जपसे थके तो ध्यान करे।

७४—परमात्माके नामका उच्चस्वरसे कीर्तन करनेसे मनोनाश बहुत शीघ्र होता है। सुर और तालके सहित अकेला या कई आदमी एक साथ मिलकर उच्च स्वरसे कीर्तन करें। कीर्तनसे परमात्माका साक्षात्कार बहुत जल्द होता है। यह सब करते समय कोई आशा, इच्छा या अभिमान तो होना ही नहीं चाहिये। भक्ति करते समय माया या कीर्तिकी इच्छा हो तो वे नाशवान् चीजें मिलेंगी और परमात्माकी इच्छा होगी तो उतने ही या उससे कम ही प्रयत्नसे परमात्मा मिल जायँगे।

७५—परमात्मा सदा सर्वत्र हैं, सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वज्ञ हैं; निष्काम भक्तिसे चित्त स्वच्छ होते ही उसमें तुरंत प्रकट होंगे। जबतक प्रकट नहीं होते, तबतक समझे कि मेरे भीतर कोई-न-कोई मायाकी या कीर्तिकी इच्छा वर्तमान है, इसीसे प्रकट नहीं होते। इच्छामात्रके जाते ही भगवान् अवश्य प्रकट होते हैं। केवल सावधानीसे देखे कि मन कोई संकल्प या इच्छा तो नहीं करता; करता हो तो उसे बंद करे।

७६—काम, क्रोध और लोभ—ये तीनों दुःखके द्वार हैं। इन तीनोंका त्याग करनेवाला भक्त शीघ्र तरता है। काम, क्रोध और लोभका कारण इच्छा है। इच्छाका मूल

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

है विषयोंमें सुख-बुद्धि। विषयोंमें सुख-बुद्धि आत्माके अज्ञान-से होती है। आत्माके अज्ञानका मूल खोज निकालना सम्भव नहीं, परंतु आत्मज्ञानसे उसका नाश हो जाता है और आत्मज्ञान निष्काम भक्तिसे होता है।

७७–जिससे यह जगत् उत्पन्न होता है, जिसके द्वारा स्थित हो रहा है और अन्तमें जिसमें लयको प्राप्त होता है, वह 'परमात्मा' कहलाता है। वह सर्वत्र व्यापक है, सर्व-शक्तिमान् है, सर्वज्ञ है और सबका सुहृद् है। जहाँ दृढ़ भावना और श्रद्धापूर्वक भक्ति की जाती है, वहाँ वह प्रकट होता है। परमात्मा पिंजरेमें तोतेके समान प्राणिमात्रमें नहीं रहता, परंतु जैसे काष्ठमें अग्नि है, जैसे दूधमें घी व्यापक है, जैसे तरङ्गमें जल है उसी प्रकार परमात्मा सबमें ओतप्रोत है। अतएव जिस किसी मूर्तिमें मन श्रद्धा और प्रेम करता है, उसी मूर्तिकी उपासना करनेसे उस मूर्तिमें जो अमूर्त्त परमात्मा है, वह प्रकट हो जाता है। मूर्ति या चित्र परमात्मा नहीं है, यह सभी जानते हैं; परंतु मूर्त्ति या चित्र अथवा सारे प्राणी-पदार्थोंके शरीरमें अमूर्त्त परमात्मा व्यापक है। अतएव चाहे जिस मूर्तिकी उपासना करनेपर मूर्त्तिके बाह्य स्वरूपको लक्ष्यमें रखकर उपासना न करे; बल्कि मूर्तिमें व्यापक जो अमूर्त्त स्वरूप, जो परमात्म-स्वरूप है, उसको लक्ष्य करके उपासना करे। जैसे मूर्त्ति चाहे गणेश, हनुमान्, शंकर या देवीकी हो, पर उन सबमें व्यापक परमात्मा है ही। मूर्तिकी शक्ति परिमित है, देव और देवीकी शक्ति सीमित है, पर उनमें व्यापक परमात्माकी शक्ति अपार है। इसी कारण सनातनधर्ममें किसी भी आकारकी मूर्ति हो, उसकी स्तुतिमें परमात्मा-वाचक शब्द होते हैं। मूर्त्तिका आकार चाहे जो हो, पर वस्तुतः परमात्मा उस मूर्तिरूपमें स्थित होता है।

७८–काम-क्रोध और लोभको दूर करना आवश्यक है; पर जबतक ये दूर नहीं हों तबतक परमात्माकी भक्ति ही न करे—ऐसी बात नहीं है। वे इस प्रकार दूर हटानेसे नहीं हटते, परमात्माकी निष्काम भक्तिसे ही उन्हें निकाला जा सकता है। अतएव साधकको निष्काम भक्ति करते रहना चाहिये; और जबतक ये तीनों रहें तबतक भक्तिमें लगे रहना चाहिये।

७९–आत्मज्ञान होनेके बाद भी आत्म-स्मरण, परमात्म-स्मरण चालू रखना चाहिये। साधकके लिये दो ही काम करनेके हैं—एक तो शरीरकी सामर्थ्यके अनुसार, कर्त्तव्य जानकर, आसक्ति और फलकी इच्छासे रहित होकर स्वधर्मरूपी कर्म करना और दूसरा हरिस्मरण करना। मनको क्षणभर भी बेकार न रक्खे। या तो स्वधर्म करे या नाम-स्मरण करे।

८०–जैसे हम बोले विना नहीं रह सकते, उसी प्रकार मन विचार किये विना नहीं रह सकता। इसके लिये बारंबार अभ्यास करना पड़ेगा। एक मिनट, दो मिनट, पाँच मिनट—इस प्रकार अभ्यासको बढ़ाता जाय। मनको विचार-रहित रखनेकी चेष्टा करनेसे अभ्यास बढ़ेगा। सब साधनोंका एक ही फल है और वह है मनको विचार-रहित कर देना। इसको धीरे-धीरे, बिना उतावलीके, शान्ति और धैर्यपूर्वक करे।

८१–जैसे हम बोले बिना नहीं रह सकते, उसी प्रकार हम श्वास लिये बिना भी कुछ क्षणोंसे अधिक नहीं रह सकते। बैठे हों या खड़े हों, चाहे जैसे और चाहे जहाँ हों, यह क्रिया हो सकती है। थोड़ी देर श्वास रोककर बैठिये। कोई नाक दबानेकी जरूरत नहीं। जैसे हो वैसे, शान्तिसे बैठिये और श्वास न लीजिये, न छोड़िये। यह क्रिया विना किसी आग्रह या उतावलेपनके, बहुत धीरे-धीरे बढ़ाये, इससे मन बहुत जल्दी शान्त हो जायगा। इस प्रकार कुम्भक सिद्ध होगा। कुम्भकमें आत्मदर्शन होता है।

८२–सारी इच्छा-विहीन क्रिया और सारे सत्कर्म तथा सारी निष्काम भक्तिका एक ही फल आत्मज्ञान है। मैं शरीर नहीं हूँ, इन्द्रिय नहीं हूँ, मन नहीं हूँ, बुद्धि नहीं हूँ, वरं इन सबसे परे असङ्ग आत्मा हूँ—ऐसा परोक्ष ज्ञान होनेके बाद इसका अभ्यास चालू रखना आवश्यक है। एक क्षण भी आत्म-चिन्तनके बिना न रहे। आत्मविचारके बिना कभी मनोनाश नहीं होता और मनोनाशके बिना मुक्ति नहीं होती।

८३–आत्मज्ञानका साधक पहले 'मैं आत्मा हूँ'—ऐसा जानकर पीछे, 'यह जो कुछ दीखता है, यह सब आत्म-स्वरूप' है—यह जाने और इसका अभ्यास करे। 'मैं'के साथ-साथ यह सब आत्म-स्वरूप है, इसका सदा अभ्यास करे। इसके लिये शास्त्रों और संतोंने अनेक भावनाएँ बतलायी हैं, जैसे—

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

ॐ अहं च सर्वं खलु वासुदेवः ।
ॐ अहं ब्रह्मास्मि ।
ॐ सर्वं खलु इदं ब्रह्म ।

यह अभ्यास सतत और सदा करे । यह सब परमात्मस्वरूप है, मैं भी परमात्मस्वरूप हूँ । सब परब्रह्मस्वरूप है और जो कुछ नाम-रूपवाला जगत् दीखता है, वह मिथ्या दीखता है—जैसे जलमें बुद्बुद दीखता है, मरुभूमिमें जल दीखता है, उसी प्रकार । यह भावना नित्य करे ।

पुरुषार्थ*

(लेखक—अनन्तश्री स्वामीजी श्रीअखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज)

मनुष्य-जीवनमें तीन प्रकारकी इच्छाएँ स्वाभाविक ही रहती हैं—मैं जीवित रहूँ, मैं समझता रहूँ और मैं सुखी रहूँ।

इन तीनों इच्छाओंसे जीवनका यह लक्ष्य सूचित होता है कि मैं सत्—अविनाशी, चित्—सर्वावभासक एवं परमानन्द-स्वरूप हो जाऊँ। इसके साथ ही अपने प्रभाव, यश आदिका विस्तार अर्थात् देशमें व्यापकता, सर्व वस्तुओंपर आधिपत्य, पराधीन न होना अर्थात् स्वातन्त्र्य भी चाहते हैं। अनायास ही हमारा प्रयोजन सिद्ध हो जाय, ऐसी इच्छासे स्वतःसिद्ध वस्तुकी प्राप्ति अभीष्ट है—ऐसा भी निश्चय होता है। अपनी इन इच्छाओंका पिण्डीभूत अर्थ यह है कि हम परमात्मासे एक होना चाहते हैं या परमात्मा होना चाहते हैं। ज्ञानी-अज्ञानी सबके हृदयमें समझे-अनसमझे यह स्वाभाविक इच्छा है।

इन इच्छाओंकी पूर्तिके जो साधन निश्चित किये हुए हैं, उनपर विचार करनेसे ज्ञात होता है कि आत्मानुभूतिसे शून्य बहिर्मुख पुरुष केवल स्थूल वस्तुओंके एकत्रीकरणको एकमात्र अपने जीवनकी सफलता मानते हैं। ऐसे लोगोंको अर्थपरायण कहा जाता है। जो लोग अर्थके साथ-ही-साथ भोगको भी प्रधानता देते हैं, वे कामपरायण कहे जाते हैं; परंतु अर्थ-कामके अनियन्त्रित सेवनसे शरीरमें रोग, इन्द्रिय-दौर्बल्य और समाजमें संघर्ष, वैमनस्य, पराधीनता, युद्ध आदिकी सृष्टि होती है। इसीसे धर्मकी आवश्यकताका अनुभव होता है। क्या अधिक-से-अधिक अर्थभोग और श्रमकी सुविधा हमें ही मिलनी चाहिये, दूसरोंको नहीं? पहले क्या करना, क्या भोगना, क्या इकट्ठा करना आवश्यक है—इसका विवेक तो होना ही चाहिये। समाज या राष्ट्रके लिये विश्वकी दृष्टिसे क्या उपयुक्त है, यह दृष्टिकोण होना भी आवश्यक है। केवल बाह्य वस्तुओंके लिये और उनके शोधन, उत्पादन, प्राप्ति और विनिमयके लिये जो कुछ किया जाता है उसे श्रम कहते हैं,। बाह्यके साथ अन्तरका समन्वयके लिये—हृदयकी शुद्धिके लिये जो कुछ किया जाता है, उसको धर्म कहते हैं। धर्म काम-अर्थकी वासनाको नियन्त्रित करके मनुष्यको वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रिय एवं सर्वप्रकारके अनर्थोंसे रक्षा करता है। धर्मके साथ अभ्युदय एवं निःश्रेयसका होना अनिवार्य है। पूर्वमीमांसाके भाष्यकार धर्मलक्षणके सूत्रकी व्याख्यामें 'विहितत्व'से उपक्रम करके निःश्रेयसकरत्वपर ही उसका उपसंहार करते हैं—कणादका तो धर्मलक्षणसूत्र ही **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः'** है।

धर्म अर्थात् बहते हुए मन-इन्द्रिय-प्राणको धारण करके एक मर्यादामें स्थापित करनेकी शक्ति अनुशासनके द्वारा जाग्रत् करनी पड़ती है। इसके बिना मनुष्य और पशुका भेद नहीं हो सकता।

जो मनमें आया, वही कर लिया—भोग लिया या बोल दिया तो मनुष्यमें बुद्धिमान् होनेकी पहचान क्या रही? जीवनमें अर्थ और कामके साथ ही धर्मकी नितान्त आवश्यकता है। उच्छृङ्खल अर्थसंग्रह एवं कामोपभोग व्यक्ति एवं समाजको जर्जर तथा बर्बर बना देते हैं। सम्पूर्ण रोगों, संघर्षोंकी सृष्टि इन्हींसे होती है। ये अन्तरङ्ग

* यह लेख 'चिन्तामणि' नामक मासिक पत्रिकासे उद्धृत किया गया है। उक्त पत्रिका पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी द्वारा स्थापित सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, 'विपुल' २८। १६ रिजरोड, मलाबार हिल, बम्बई ६ से प्रकाशित हो रही है। इसमें सुप्रसिद्ध महात्माओं तथा विद्वानोंके आध्यात्मिक विषयपर बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथा प्रेरणादायक निबन्ध प्रकाशित होते हैं। वार्षिक मूल्य ४) है। ग्राहक बननेके इच्छुक उक्त पतेपर पत्र-व्यवहार करें—सम्पादक

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

रोगके परिणाम हैं, सौमनस्यके विघातक एवं वैमनस्यके जनक हैं। इसलिये कब, कहाँ, किसको, किससे, किसलिये, कितना अर्थ-कामका संग्रह करना चाहिये, इसका एकमात्र नियन्ता धर्म ही है। शासन, पंचायत, कानून, फौज-पुलिस—ये सब थोड़ी देरके लिये बाहर-बाहर नियन्त्रण कर सकते हैं, स्वयं इनकी सुव्यवस्थाके लिये भी धर्मकी आवश्यकता है। कोई भी व्यक्ति, जाति, सम्प्रदाय, प्रान्त, राष्ट्र धर्मके बिना प्रगति-उन्नति नहीं कर सकता। अन्ताराष्ट्रियता या मानवता भी धर्मके बिना अकिंचित्कर है; क्योंकि भौगोलिक अथवा सामाजिक संघ आस्था बिना जीवित नहीं रह सकता। आस्था हृदयमें रहती है। हृदयमान अनेकतामें ऐक्य भावमूलक ही है। वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे जो ऐक्य है, वह तो कुछ मनुष्योंके ही बुद्धिगम्य होता है। इसलिये सामान्य जनताको जीवनके क्षेत्रमें ज्ञान एवं विज्ञानसे उतना लाभ प्राप्त नहीं होता, जितना भावनात्मक धर्मसे होता है। इस धर्मधाराको सूक्ष्म शरीरके साथ अक्षुण्ण एवं नित्य-सम्बद्ध बनाये रखनेमें जन्म-जन्मान्तरका विश्वास भी बहुत सहायक होता है। स्वर्गका लोभ और नरकका भय भी उस विश्वास-को पुष्ट करता है।

हम मानते हैं—जो महान् वैज्ञानिक आविष्कार हो रहे हैं, हुए हैं और होंगे, जो भौतिक विकास एवं समृद्धि विश्वको प्राप्त हो रही है, नवीन-नवीन तथ्योंका उद्घाटन हो रहा है और हम एक सर्वमान्य उन्नतिकी ओर अग्रसर हो रहे हैं, वह आवश्यक है, अनिवार्य है—मानव-समाजके लिये भौतिक उन्नतिके बिना केवल आध्यात्मिक शोधन, आधिदैविक विश्वास अथवा धार्मिक कर्मकाण्ड अधूरा ही रहता है। भोजन, वस्त्र, निवास, शिक्षा, चिकित्सा, संचार, आदान-प्रदान, शासन आदिकी उन्नतिके बिना धार्मिक आस्था अनुपयुक्त, शुष्क एवं विघटनकारिणी-सी हो जायगी। अर्थ, धर्म, काम—तीनों पुरुषार्थ परस्पर समन्वित ही होने चाहिये। धर्मानुसार अर्थ-काम हों, अर्थानुसार धर्म-काम हों और कामानुसार धर्म-अर्थ हों। धर्मके बिना अर्थ-काम अनर्थके हेतु हैं, धर्मानुरोधी अर्थ-काम श्रेय-प्रेयके साधन हैं।

किसी-किसीके मनमें शङ्का रहती है कि धर्मके अनुसार आहार-विहार, व्यवहार-व्याहार अथवा आचार-विचार बनानेपर लौकिक उत्थानमें बाधा पड़ती है; क्योंकि आज समाजका काम-काज, लेन-देन ऐसी अवस्थामें पहुँच गया है कि केवल धर्मानुकूल आचरणको लोग एक सनक एवं पागलपन समझते हैं। देखनेमें आता है कि लोक-व्यवहारमें जो अधिक धार्मिक होता है, उसका लोग उपहास करते हैं और उसकी सफलता संदिग्ध रहती है। वर्तमान वातावरण और परिस्थितिमें उपर्युक्त बातें कुछ अंशतक सही हैं। फिर भी धर्मानुष्ठान थोड़े-से तप, कष्टसहिष्णुता और धैर्यकी अपेक्षा रखता है। हमारा यह निश्चित मत है, अनुभव है और लोकव्यवहारमें ऐसा देखा-सुना है कि सच्चे सदाचारी धर्मात्मा पुरुषका उपहास अधिक दिनोंतक नहीं होता। यदि कोई उत्साह, धैर्य और साहससे आसपास रहनेवाले लोगोंकी रहनी-सहनीकी अपेक्षा न रखकर ईमानदारीके साथ व्यवहार करता जाय तो थोड़े ही दिनोंमें अधिकाधिक जनता उसपर विश्वास करने लगती है। व्यवहारके क्षेत्रमें सफलता प्राप्त करनेके लिये इससे उत्तम कोई मार्ग नहीं है कि लोग उसपर विश्वास करें। यदि एक मासमें दस व्यक्ति भी किसीपर विश्वास करने लगें तो वह वर्षोंमें सहस्रोंका विश्वासपात्र बन जाता है। व्यवहारक्षेत्रमें जो बहुतोंका विश्वसनीय हो जाता है, उसे पद-पदपर सफलता वरण करती है—उसका एक-एक कदम सुख-समृद्धिकी ओर बढ़ता है। लोग धर्मवान् अथवा दीन-ईमानसे युक्त पुरुषसे ही व्यवहार करना पसंद करते हैं, स्वयं चाहे जैसे भी हों। मैंने देखा है कि छोटे-छोटे व्यापारी अपनेको जनताका विश्वस्त बनाकर अत्यन्त सम्पन्न और समृद्ध बन गये हैं। ठीक है, आजकल विज्ञापनका युग है; परंतु प्रचारित विज्ञापनपर शङ्का होती है और सहज विज्ञापन स्थायी होता है। यदि हम सहज भावसे सच्चे धर्मात्मा बनें तो देर-सबेर जनसाधारणका ध्यान खिंचेगा ही। यह बात ध्यान देने योग्य है कि अपना धर्मपालन ध्यान खींचनेके लिये नहीं, हृदयकी पवित्रताके लिये होना चाहिये।

वस्तुओंके उपार्जनके साथ-ही-साथ उनका सदुपयोग और उपभोग होना भी आवश्यक है। यदि केवल वस्तुओंका उत्पादन और उपार्जन ही हो, विनिमय और वितरण ठीक-ठीक न हो तो एकत्र की हुई वस्तु नष्ट हो जाती है, अनभिप्रेत व्यक्तियोंके हाथ लगती है अथवा कर-दण्ड-शुल्क आदिके रूपमें उसका व्यय हो जाता है। अत्यन्त संग्रह अनर्थकी ओर उन्मुख होता है। उपार्जन-शक्तिका विनियोग धर्मकी वृद्धिके लिये, अर्थकी समृद्धिके लिये, उज्ज्वल यशके विस्तारके लिये, स्वजन एवं मानवताकी सेवाके लिये अवश्य ही होना चाहिये। ये सब सम्पत्तिके दायभागी

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

ॐ अहं च सर्वं खलु वासुदेवः।
ॐ अहं ब्रह्मास्मि।
ॐ सर्वं खलु इदं ब्रह्म।

यह अभ्यास सतत और सदा करे। यह सब परमात्मस्वरूप है, मैं भी परमात्मस्वरूप हूँ। सब परब्रह्मस्वरूप है और जो कुछ नाम-रूपवाला जगत् दीखता है, वह मिथ्या दीखता है—जैसे जलमें बुद्बुद दीखता है, मरुभूमिमें जल दीखता है, उसी प्रकार। यह भावना नित्य करे।

पुरुषार्थ*

(लेखक—अनन्तश्री स्वामीजी श्रीअखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज)

मनुष्य-जीवनमें तीन प्रकारकी इच्छाएँ स्वाभाविक ही रहती हैं—मैं जीवित रहूँ, मैं समझता रहूँ और मैं सुखी रहूँ।

इन तीनों इच्छाओंसे जीवनका यह लक्ष्य सूचित होता है कि मैं सत्—अविनाशी, चित्—सर्वावभासक एवं परमानन्द-स्वरूप हो जाऊँ। इसके साथ ही अपने प्रभाव, यश आदिका विस्तार अर्थात् देशमें व्यापकता, सर्व वस्तुओंपर आधिपत्य, पराधीन न होना अर्थात् स्वातन्त्र्य भी चाहते हैं। अनायास ही हमारा प्रयोजन सिद्ध हो जाय, ऐसी इच्छासे स्वतःसिद्ध वस्तुकी प्राप्ति अभीष्ट है—ऐसा भी निश्चय होता है। अपनी इन इच्छाओंका पिण्डीभूत अर्थ यह है कि हम परमात्मासे एक होना चाहते हैं या परमात्मा होना चाहते हैं। ज्ञानी-अज्ञानी सबके हृदयमें समझे-अनसमझे यह स्वाभाविक इच्छा है।

इन इच्छाओंकी पूर्तिके जो साधन निश्चित किये हुए हैं, उनपर विचार करनेसे ज्ञात होता है कि आत्मानुभूतिसे शून्य बहिर्मुख पुरुष केवल स्थूल वस्तुओंके एकत्रीकरणको एकमात्र अपने जीवनकी सफलता मानते हैं। ऐसे लोगोंको अर्थपरायण कहा जाता है। जो लोग अर्थके साथ-ही-साथ भोगको भी प्रधानता देते हैं, वे कामपरायण कहे जाते हैं; परंतु अर्थ-कामके अनियन्त्रित सेवनसे शरीरमें रोग, इन्द्रिय-दौर्बल्य और समाजमें संघर्ष, वैमनस्य, पराधीनता, युद्ध आदिकी सृष्टि होती है। इसीसे धर्मकी आवश्यकताका अनुभव होता है। क्या अधिक-से-अधिक अर्थभोग और श्रमकी सुविधा हमें ही मिलनी चाहिये, दूसरोंको नहीं? पहले क्या करना, क्या भोगना, क्या इकट्ठा करना आवश्यक है—इसका विवेक तो होना ही चाहिये। समाज या राष्ट्रके लिये विश्वकी दृष्टिसे क्या उपयुक्त है, यह दृष्टिकोण होना भी आवश्यक है। केवल बाह्य वस्तुओंके लिये और उनके शोधन, उत्पादन, प्राप्ति और विनिमयके लिये जो कुछ किया जाता है उसे श्रम कहते हैं। बाह्यके साथ अन्तरका समन्वयके लिये—हृदयकी शुद्धिके लिये जो कुछ किया जाता है, उसको धर्म कहते हैं। धर्म काम-अर्थकी वासनाको नियन्त्रित करके मनुष्यको वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रिय एवं सर्वप्रकारके अनर्थोंसे रक्षा करता है। धर्मके साथ अभ्युदय एवं निःश्रेयसका होना अनिवार्य है। पूर्वमीमांसाके भाष्यकार धर्मलक्षणके सूत्रकी व्याख्यामें 'विहितत्व'से उपक्रम करके निःश्रेयसकरत्वपर ही उसका उपसंहार करते हैं—कणादका तो धर्मलक्षणसूत्र ही **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः'** है।

धर्म अर्थात् बहते हुए मन-इन्द्रिय-प्राणको धारण करके एक मर्यादामें स्थापित करनेकी शक्ति अनुशासनके द्वारा जाग्रत् करनी पड़ती है। इसके बिना मनुष्य और पशुका भेद नहीं हो सकता।

जो मनमें आया, वही कर लिया—भोग लिया या बोल दिया तो मनुष्यमें बुद्धिमान् होनेकी पहचान क्या रही? जीवनमें अर्थ और कामके साथ ही धर्मकी नितान्त आवश्यकता है। उच्छृङ्खल अर्थसंग्रह एवं कामोपभोग व्यक्ति एवं समाजको जर्जर तथा बर्बर बना देते हैं। सम्पूर्ण रोगों, संघर्षोंकी सृष्टि इन्हींसे होती है। ये अन्तरङ्ग

* यह लेख 'चिन्तामणि' नामक मासिक पत्रिकासे उद्धृत किया गया है। उक्त पत्रिका पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी द्वारा स्थापित सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, 'विपुल' २८। १६ रिजरोड, मलबार हिल, बम्बई ६ से प्रकाशित हो रही है। इसमें सुप्रसिद्ध महात्माओं तथा विद्वानोंके आध्यात्मिक विषयपर बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथा प्रेरणादायक निबन्ध प्रकाशित होते हैं। वार्षिक मूल्य ४) है। ग्राहक बननेके इच्छुक उक्त पतेपर पत्र-व्यवहार करें—सम्पादक

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

रोगके परिणाम हैं, सौमनस्यके विघातक एवं वैमनस्यके जनक हैं। इसलिये कब, कहाँ, किसको, किससे, किसलिये, कितना अर्थ-कामका संग्रह करना चाहिये, इसका एकमात्र नियन्ता धर्म ही है। शासन, पंचायत, कानून, फौज-पुलिस—ये सब थोड़ी देरके लिये बाहर-बाहर नियन्त्रण कर सकते हैं, स्वयं इनकी सुव्यवस्थाके लिये भी धर्मकी आवश्यकता है। कोई भी व्यक्ति, जाति, सम्प्रदाय, प्रान्त, राष्ट्र धर्मके बिना प्रगति-उन्नति नहीं कर सकता। अन्ताराष्ट्रियता या मानवता भी धर्मके बिना अकिंचित्कर है; क्योंकि भौगोलिक अथवा सामाजिक संघ आस्था बिना जीवित नहीं रह सकता। आस्था हृदयमें रहती है। दृश्यमान अनेकतामें ऐक्य भावमूलक ही है। वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे जो ऐक्य है, वह तो कुछ मनुष्योंके ही बुद्धिगम्य होता है। इसलिये सामान्य जनताको जीवनके क्षेत्रमें ज्ञान एवं विज्ञानसे उतना लाभ प्राप्त नहीं होता, जितना भावनात्मक धर्मसे होता है। इस धर्मधाराको सूक्ष्म शरीरके साथ अक्षुण्ण एवं नित्य-सम्बद्ध बनाये रखनेमें जन्म-जन्मान्तरका विश्वास भी बहुत सहायक होता है। स्वर्गका लोभ और नरकका भय भी उस विश्वास-को पुष्ट करता है।

हम मानते हैं—जो महान् वैज्ञानिक आविष्कार हो रहे हैं, हुए हैं और होंगे, जो भौतिक विकास एवं समृद्धि विश्वको प्राप्त हो रही है, नवीन-नवीन तथ्योंका उद्घाटन हो रहा है और हम एक सर्वमान्य उन्नतिकी ओर अग्रसर हो रहे हैं, वह आवश्यक है, अनिवार्य है—मानव-समाजके लिये भौतिक उन्नतिके बिना केवल आध्यात्मिक शोधन, आधिदैविक विश्वास अथवा धार्मिक कर्मकाण्ड अधूरा ही रहता है। भोजन, वस्त्र, निवास, शिक्षा, चिकित्सा, संचार, आदान-प्रदान, शासन आदिकी उन्नतिके बिना धार्मिक आस्था अनुपयुक्त, शुष्क एवं विघटनकारिणी-सी हो जायगी। अर्थ, धर्म, काम—तीनों पुरुषार्थ परस्पर समन्वित ही होने चाहिये। धर्मानुसार अर्थ-काम हों; अर्थानुसार धर्म-काम हों और कामानुसार धर्म-अर्थ हों। धर्मके बिना अर्थ-काम अनर्थके हेतु हैं, धर्मानुरोधी अर्थ-काम श्रेय-प्रेयके साधन हैं।

किसी-किसीके मनमें शङ्का रहती है कि धर्मके अनुसार आहार-विहार, व्यवहार-व्याहार अथवा आचार-विचार बनानेपर लौकिक उत्थानमें बाधा पड़ती है; क्योंकि आज समाजका कामकाज, लेन-देन ऐसी अवस्थामें पहुँच गया है कि केवल धर्मानुकूल आचरणको लोग एक सनक एवं पागलपन समझते हैं। देखनेमें आता है कि लोक-व्यवहारमें जो अधिक धार्मिक होता है, उसका लोग उपहास करते हैं और उसकी सफलता संदिग्ध रहती है। वर्तमान वातावरण और परिस्थितिमें उपर्युक्त बातें कुछ अंशतक सही हैं। फिर भी धर्मानुष्ठान थोड़े-से तप, कष्टसहिष्णुता और धैर्यकी अपेक्षा रखता है। हमारा यह निश्चित मत है, अनुभव है और लोकव्यवहारमें ऐसा देखा-सुना है कि सच्चे सदाचारी धर्मात्मा पुरुषका उपहास अधिक दिनोंतक नहीं होता। यदि कोई उत्साह, धैर्य और साहससे आसपास रहनेवाले लोगोंकी रहनी-सहनीकी अपेक्षा न रखकर ईमानदारीके साथ व्यवहार करता जाय तो थोड़े ही दिनोंमें अधिकाधिक जनता उसपर विश्वास करने लगती है। व्यवहारके क्षेत्रमें सफलता प्राप्त करनेके लिये इससे उत्तम कोई मार्ग नहीं है कि लोग उसपर विश्वास करें। यदि एक मासमें दस व्यक्ति भी किसीपर विश्वास करने लगें तो वह वर्षोंमें सहस्रोंका विश्वासपात्र बन जाता है। व्यवहारक्षेत्रमें जो बहुतोंका विश्वसनीय हो जाता है, उसे पद-पदपर सफलता वरण करती है—उसका एक-एक कदम सुख-समृद्धिकी ओर बढ़ता है। लोग धर्मवान् अथवा दीन-ईमानसे युक्त पुरुषसे ही व्यवहार करना पसंद करते हैं, स्वयं चाहे जैसे भी हों। मैंने देखा है कि छोटे-छोटे व्यापारी अपनेको जनताका विश्वस्त बनाकर अत्यन्त सम्पन्न और समृद्ध बन गये हैं। ठीक है, आजकल विज्ञापनका युग है; परंतु प्रचारित विज्ञापनपर शङ्का होती है और सहज विज्ञापन स्थायी होता है। यदि हम सहज भावसे सच्चे धर्मात्मा बनें तो देर-सबेर जनसाधारणका ध्यान खिंचेगा ही। यह बात ध्यान देने योग्य है कि अपना धर्मपालन ध्यान खींचनेके लिये नहीं, हृदयकी पवित्रताके लिये होना चाहिये।

वस्तुओंके उपार्जनके साथ-ही-साथ उनका सदुपयोग और उपभोग होना भी आवश्यक है। यदि केवल वस्तुओंका उत्पादन और उपार्जन ही हो, विनिमय और वितरण ठीक-ठीक न हो तो एकत्र की हुई वस्तु नष्ट हो जाती है, अनभिप्रेत व्यक्तियोंके हाथ लगती है अथवा कर-दण्ड-शुल्क आदिके रूपमें उसका व्यय हो जाता है। अत्यन्त संग्रह अनर्थकी ओर उन्मुख होता है। उपार्जन-शक्तिका विनियोग धर्मकी वृद्धिके लिये, अर्थकी समृद्धिके लिये, उज्ज्वल यशके विस्तारके लिये, स्वजन एवं मानवताकी सेवाके लिये अवश्य ही होना चाहिये। ये सब सम्पत्तिके दायभागी

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

इन्हें अपना भाग प्राप्त न हो तो ये क्रुद्ध होकर मलिन भावकी सृष्टि करते हैं। यज्ञावशिष्ट सम्पत्ति ही कल्याणकारिणी होती है।

व्यष्टि-समष्टि-अन्तर्यामी ईश्वरको नैवेद्य अर्पण करनेके अनन्तर भगवत्प्रसादरूप सम्पत्तिका अपने लिये उपभोग मनुष्यके लिये अत्यन्त श्रेयस्कर है। ऐसी कोई वस्तु नहीं होती, जिससे समष्टिके लिये कुछ-न-कुछ प्राप्त न हुआ हो। पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, आकाश--सब समष्टिरूपसे हमारे हितकारी हैं। हमारा चलना-फिरना, खाना-पीना, बोलना, साँस लेना सब समष्टिके अनुग्रहपर ही निर्भर करता है। ऐसी परिस्थितिमें ऐसा कोई भी भोग हमारे जीवनमें नहीं होना चाहिये, जिससे समष्टिकी हिंसा होती हो। भोगकी उच्छृङ्खल प्रवृत्तिसे ही रोगकी उत्पत्ति होती है। धर्मनियन्त्रित भोग भी एक प्रकारका योग ही है। निर्मर्याद भोग केवल दूसरोंको ही दरिद्र-दुखी नहीं बनाता, अपने आपको भी दुखी-दरिद्र बनाता है। बहुत भोग करनेवालोंका भोगसामर्थ्य भी क्षीण हो जाता है। अधिक भोगसे जो शरीरकी पुष्टि, संतानकी सृष्टि आदि चाहते हैं वे भी मूर्ख हैं; क्योंकि विलास उल्लासका साधन नहीं, ह्रासका साधन है। शक्तिक्षय किसी भी पुरुषार्थका साधन नहीं है। भोगका आधिक्य केवल शक्तिका अपव्यय है और शक्तिका अपव्यय हो जानेपर आदमी कहींका नहीं रहता--न घरका न घाटका; न दीनका न दुनियाका।

भोगका अभ्यास जितना अधिक बढ़ता है, उतना ही राग-रोगका विकास और योगका ह्रास होता है। इसलिये भोग उतना ही करना चाहिये, जितना जीवन-निर्वाहके लिये आवश्यक हो; धर्म और अर्थका नाश करनेवाला न हो, मन और इन्द्रियोंके लिये अप्रसन्नताकारक न हो। जिस भोगके अनन्तर वैरस्य, वैमनस्य, ग्लानि, घृणा, असमर्थता, पश्चात्ताप और दुःखकी उत्पत्ति होती हो, ऐसा भोग कभी नहीं करना चाहिये। यह स्मरण रखने योग्य है कि हमें जीवनमें केवल भोग ही नहीं चाहिये, उसके साथ-ही-साथ बाह्य सम्पत्ति, यश, विश्वसनीयता, सामर्थ्य, धर्म, अन्तःकरणकी प्रसन्नता, विवेक और सुख भी चाहिये। केवल अर्थ एवं भोगके साथ बँध जाना जीवनकी पूर्णता नहीं है, चूर्णता है, विस्तीर्णता नहीं संकीर्णता है। जीवन उदीर्ण होना चाहिये।

मनुष्यके सूक्ष्मतम अन्तःप्रदेशमें सच्चिदानन्दकी अव्यक्त अनन्त धारा प्रवाहित हो रही है। मनुष्यके अङ्ग-अङ्गमें—अन्तरङ्ग और बहिरङ्गमें वह अनुस्यूत रहती है। सत्संस्कारोंके द्वारा प्रतिबन्धोंकी निवृत्ति अर्थात् दोषापनयन करके उसको केवल अभिव्यक्ति दी जाती है। मनुष्यमें जो सत् है, वह मनमें 'मैं हूँ' और 'मैं रहना चाहता हूँ'—इन दो भावोंके रूपमें प्रकट होता है। इसका यह परिणाम निकलता है—मैं अपनी या किसी दूसरेकी मृत्युका निमित्त न बनूँ, जीऊँ और जीने दूँ। इसी सत्के आश्रित वस्तु और कर्म होते हैं। हमारे पास वस्तु और कर्म दोनों ही ऐसे होने चाहिये, जो जीने और जिलानेवाले हों। वस्तु ऐसी हो, जिससे दूसरेका हक मारा न जाय; कर्म ऐसा हो, जो किसीकी हिंसा न करे। इसी अवस्थामें हमारी वस्तु और कर्ममें भी सत्का अवतरण हो जाता है, तब हमारी सम्पत्ति सत्सम्पत्ति और कर्म सत्कर्म हो जाता है। इसीको धर्म कहते हैं। मनुष्य अपनी द्रव्यशक्ति एवं क्रियाशक्तिका उपयोग अपने जीवन-निर्वाहके लिये और दूसरोंके जीवनदान-के लिये करें। वस्तुतः धन व्यक्तिगत होता ही नहीं। उसमें सबका अंश रहता है। कोई भी बाह्य एवं आन्तर क्रिया केवल आश्रयको ही प्रभावित नहीं करती, अपने विषयको भी प्रभावित करती है। इसलिये कर्म भी व्यक्तिगत नहीं होता। जब वस्तु और व्यक्ति दोनों ही व्यक्तिके लिये नहीं, समाजके लिये हैं, तब हमारा दृष्टिकोण अपने आप ही समाजवादी हो जाता है। इस समाजको जाति, सम्प्रदाय, प्रान्त, राष्ट्र आदिके रूपमें संकुचित नहीं करना चाहिये। मानवता भी एक प्रकारकी जातीयता ही है। राष्ट्रियता भी अन्य राष्ट्रके प्रति क्लेश उत्पन्न करती है। पृथिवी भी एक ग्रह है और आगे राकेट आदिके द्वारा गमनागमन-व्यवस्था होनेपर दूसरे ग्रहोंके निवासियोंके साथ भी वैमनस्य, संघर्ष और युद्धकी सम्भावनाएँ हैं। ऐसी अवस्थामें ग्रहीयभाव भी संकीर्ण हो जायगा। अतः अगणित ब्रह्माण्डोंमें एकरस विद्यमान आत्मसत्ताका दर्शन ही सर्वोपरि उदारभाव एवं समाजवादकी (मौलिक) मूलभित्ति (तत्त्व) है। यह भाव रहनेपर ही धर्म और अर्थ अपने शुद्ध स्वरूपमें रहते हैं।

जीवन-निर्वाहके लिये अस्तिभावके पोषक पदार्थोंकी अपेक्षा होती है। बिना भावके पदार्थ और बिना पदार्थके भाव नहीं होते। जीवन एक भाव है। अन्न, वस्त्र,

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

औषध, निवासस्थान, पूँजी, परिवार—ये सब पदार्थ हैं। ये सब सद्भावके ही स्व और अन्य रूपमें प्रकाश हैं। इनके समन्वयसे ही मनुष्यका जीवन उज्ज्वल होता है। मनुष्यके जीवनमें चिद्भाव स्पष्ट रूपसे प्रकाशित होता है और प्रकाशित करता है। इन्द्रियाँ प्रकाशित करती हैं और विषय प्रकाशित होते हैं। सूर्य, चन्द्रमा आदि इनकी सहायता करते हैं। चित्त संस्कारोंका संग्रह करता है। बुद्धि उचित-अनुचितका विवेक करती है। इस प्रकार ज्ञानसे सम्बद्ध जितनी क्रिया-प्रक्रिया होती है, सब चिद्भावका ही विलास है। यह निश्चित है कि मनमें जितने संकल्प-विकल्प उठते हैं, वे विशेष ज्ञानके अनुरूप ही होते हैं। जिसको हम तुरीय सुख, हित, अनुकूल समझते हैं, उसकी प्राप्तिके लिये और जिसको अप्रयोग दुःख, अहित, प्रतिकूल समझते हैं, उसके परिहारके लिये इच्छाएँ उदय होती हैं। इच्छाके अनुसार प्रयत्न होता है। इच्छाके तारतम्यसे ही प्रयत्नमें तीव्रता तथा मन्दता होती है। इसका अर्थ हुआ कि सम्पूर्ण कर्मकलापके मूलमें विशेष ज्ञान और समझदारी है। इस विशेष ज्ञानका शोध करनेके लिये शिक्षाकी आवश्यकता है। शिक्षाके लिये विद्यालय, पुस्तकालय, सत्सङ्ग, वाचनालय, पुस्तक, पत्रिका, रेडियो—सभी साधनोंकी अपेक्षा है। इसके लिये प्रदर्शनकी भी अपेक्षा होती है। यदि उपर्युक्त रीतिसे शिक्षा न दी जाय और विशेष ज्ञान ठीक-ठीक प्राप्त न हो तो मनुष्य पशुके समान रहता है। इस पशुत्वके निस्सारण और निवारणके लिये एक विशेष प्रकारका प्रशिक्षण अभीष्ट है। वह है पहलेसे विकाररूपमें आनेवाले दोषोंका सम्मार्जन और समाजकी समृद्धि, प्रगति, उन्नतिके अनुरूप गुणोंका आधान। संसारमें कई वस्तुएँ देखनेमें आती हैं, जो घिसाई करनेपर चमक जाती हैं; बहुत-सी ऐसी होती हैं, जिनपर बाहरसे रंग-रोगन करना पड़ता है। मनुष्यके मनकी भी यही दशा है। इसीसे शिक्षाका ध्येय मनुष्यके अन्तस्तलमें विद्यमान स्वाभाविक चिद्भावको किसी विघ्न-बाधाके बिना विकसित करना है। जब बालकका जन्म होता है, उसके अंदर एक अत्यन्त संकीर्ण देह-पदार्थमें अहंभाव उठता है। शिक्षाके द्वारा उसको परिवार-जाति-सम्प्रदाय, राष्ट्र-विश्व-ब्रह्माण्ड, प्रकृति और परमात्मासे परिचित कराना पड़ता है। यदि शिक्षण प्राप्त करनेपर भी मनुष्यके संकुचित भावका निराकरण नहीं हुआ और अत्यन्त विस्तीर्ण, देश-कालादिके बन्धनोंसे निर्मुक्त परम सत्यके ज्ञानकी ओर वृत्ति उन्मुख नहीं हुई तो वह शिक्षण सफल नहीं हुआ। शिक्षण अर्थात् विकारी और कृत्रिम जीवनसे मुक्ति पाकर सहज-सरल-स्वाभाविक जीवनप्रणालीको हृदयंगम करनेकी कला। अध्याहार्य ज्ञानोंकी परतन्त्रता एवं प्रभावसे मुक्त होकर स्वरूपभूत स्वयंप्रकाश ज्ञानके समुल्लास-विकासकी प्रक्रिया। अपनेको आनन्दित रखनेके लिये वस्तुओं, व्यक्तियों, स्थानों एवं परिस्थितियोंसे निरपेक्ष रहकर परमानन्दके अन्तरङ्ग उत्सका प्रवाहीकरण। जो शिक्षा हमें वस्तुओं, व्यक्तियों, स्थानों और परिस्थितियोंके परतन्त्र बना देती है, वह शिक्षण नहीं, शिक्षणाभास है। शिक्षणके द्वारा सुषुप्त-प्रतिभा-जागरण अनिवार्य है।

आनन्दभावके विकासके लिये निश्चित रूपसे कुछ श्रम और कुछ विश्रामका समन्वय करना पड़ता है। स्वास्थ्यके लिये आयुर्वेद, शत्रुओंकी पराजयके लिये शस्त्रास्त्र-विद्या, मनोरञ्जनके लिये संगीत अभिनय-वाद्य, अपनी सुख-सुविधाके लिये मनोऽनुकूल आवास—यह सब अपेक्षित होनेपर भी ये सारी बातें बहिरङ्ग हैं और इनका निरूपण उपवेदोंमें ही किया गया है। वेद सुखी जीवन बितानेके लिये लौकिक, पारलौकिक एवं दोनोंसे विलक्षण किसी अन्य प्रमाणसे अज्ञात उपायोंका निर्देश करता है और उनके शोधन-बोधनके लिये प्रतिभाके प्रयोग-उपयोगकी दिशाका निर्देश करता है। लोक-व्यवहारमें लोग चार प्रकारसे सुखका अनुभव करते दिखायी पड़ते हैं—विषयभोगसे, धन, विद्या, तप, जाति, सम्बन्ध, बुद्धि आदिके अभिमानसे, सुखके मनोरथ एवं आशासे तथा जैसा अभ्यास पड़ जाता है, उसी रीतिसे रहने-सहनेपर। ये चारों प्रकार लौकिक हैं और सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर मनोरथ-सुखके अन्तर्गत लोकमें ही पारलौकिक सुखका संनिवेश हो जाता है। पारमार्थिक सुख साध्य नहीं, सिद्ध है; उसमें न धर्मके समान विरोध है, न योगके समान निरोध है, न उपासनाके समान अनुरोध है, न जिज्ञासाके समान शोध है; वह तो केवल स्वतःसिद्धस्वरूप सुखका बोध-ही-बोध है। उसमें अनुकूल तथा प्रतिकूल विषयोंकी उपस्थिति अथवा अनुपस्थितिका कोई सम्बन्ध नहीं है, केवल बोध-ही-बोध है। शत्रु-मित्रकी विद्यमानता अथवा अविद्यमानता उसमें किसी प्रकारका विरोध उत्पन्न नहीं करती, वह सदा ज्यों-का-त्यों एकरस ही रहता है। जिस उपलब्धिमें विषय-विषयीभाव अत्यन्त उपेक्षित, तुच्छ एवं बाधितरूपसे भासते हैं, वह उपलब्धि ही परमानन्द है और

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

अपना स्वरूप है। वेदान्तका यह परम एवं चरम निर्देश ही उपनिषद् है। इसके द्वारा जन्म-मरण, गमनागमन, संकोच-विस्तार, आवर्तन-परिवर्तन तथा सभी प्रकारकी चिन्ताओंके भार सर्वदाके लिये सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं, उनकी नित्य निवृत्तिका बोध हो जाता है। नेति-नेतिके द्वारा अशेष-विशेषका बोध होनेपर तत्त्वमस्यादि वाक्यके द्वारा अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है और बोध तो नित्यप्राप्त प्राप्त-सा होता है, नित्य निवृत्त दुःख ही निवृत्त-सा होता है। इसीको भारतीय वेद-विद्याने परम पुरुषार्थ बताया है।

महर्षि कृष्णद्वैपायन क्या ब्रह्मसूत्रकर्त्ता बादरायण हैं ?

(लेखक—श्रीनीरजाकान्त चौधरी देवशर्मा)

चिरकालसे अपने देशमें लोगोंमें यह विश्वास चला आ रहा है कि आजसे प्रायः पाँच हजार वर्ष पूर्व महर्षि कृष्णद्वैपायन 'वेदव्यास'ने द्वापर युगके अन्तमें कुरुक्षेत्रके महायुद्धके कुछ पश्चात् महाभारतकी रचना की थी।

शास्त्रकारोंमें कृष्णद्वैपायनका स्थान यथार्थ ही अग्रगण्य और सर्वोच्च है। उन्होंने विशाल वेदराशिको विभिन्न संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थोंमें सुविभक्त और सुसम्बद्ध किया, अतएव वे 'वेदव्यास' नामसे विख्यात हुए। महाभारत और अष्टादश महापुराणोंकी रचना उन्होंने ही की। संसारके इन बृहत्तम धर्मग्रन्थोंमें सब मिलाकर पाँच लाख श्लोक हैं। उन्होंने ही फिर 'बादरायण' नामसे वेदान्तदर्शन, उत्तरमीमांसा या ब्रह्मसूत्र नामक लघु पुस्तिकाकी रचना की। इसमें कुल लगभग ५५५ संक्षिप्त सूत्र हैं। फिर भी यह महान् ग्रन्थ वेदका सार है और साथ ही अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि ब्रह्मसम्बन्धी विभिन्न दर्शनोंकी सब प्रकारकी दुरूह और गूढ़ आलोचनाका मूल आधार है। इसके आश्रयसे ही ब्रह्मजिज्ञासा और ब्रह्मानुसंधान अधिकारी-भेदसे विभिन्न वादोंके मार्गद्वारा प्रसारित और पल्लवित हुआ है। इसके सिवा महर्षि व्यासने पातञ्जलयोगदर्शनका भाष्य किया है। भगवान् शंकराचार्यने स्वयं इसकी टीका लिखी है। व्यासजीकी स्मृति, चरणव्यूह और शिक्षा भी पायी जाती है। योगवासिष्ठ महारामायण भी व्यासकृत प्रसिद्ध है।

अतएव परम कारुणिक व्यासजीने वेदविभागरूपी विराट् कार्यके सिवा स्त्री-शूद्र और द्विजेतर अनधिकारी जनसाधारणके लिये वेदकी व्याख्या—महाभारत और पुराण, दार्शनिकों और त्यागी पुरुषोंके लिये वेदान्तशास्त्र तथा योगीजनके लिये योगभाष्यकी रचना करके जगत्का महान् उपकार किया है। इस ऋषि-ऋणका परिशोध नहीं हो सकता।

पाश्चात्त्य मत—'व्यास' एक मिथ्या कल्पना

भारतपर अधिकार करनेके बाद कुछ समय बीतनेपर यूरोपीय लोगोंकी दृष्टि संस्कृत-साहित्यके ऊपर पड़ी। १८३२ ई० से आक्सफोर्डमें संस्कृत अध्यापक (Boden Chair)* नियुक्त हुए। कर्नल बोडेन (Boden) ने भारतमें उपार्जित धनराशि देकर जो न्यासपत्र (Trust deed) किया, उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि भारतमें हिंदू लोगोंको ईसाई बनाना ही उसका मुख्य उद्देश्य था।

बिलसन साहब (H. H. Wilson) प्रथम बोडेन अध्यापक बने। वे अंग्रेज थे। उन्होंने १८४१ ई० में बिष्णुपुराणके अंग्रेजी अनुवादकी भूमिकामें बतलाया कि महापुराण प्रायः आधुनिक हैं। धूर्त ब्राह्मण पुरोहितोंके दलने सरल विश्वासी लोगोंको ठगनेके लिये इनका जाल (Pious frauds) रचकर व्यासके नामसे चलाया है। कुछ वर्षोंके बाद उन्होंने लिखा कि 'व्यास' शब्दका अर्थ है—'विन्यासक'। इस नामका कोई आदमी कभी था, या बिल्कुल ही नहीं था, यह संदेहजनक है। (Vyasa the arranger, a person of rather questionable chronology and existence' *Introduction to the Rigveda-Sanhitā. xx*)

महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री कहते हैं कि बिलसनके† मतसे महापुराणोंमें सर्वापेक्षा प्राचीन भी ८०० ई० के पूर्वके लिखे नहीं हैं। निस्संदेह अधिकांश पुराण बहुत बादमें लिखे

* The Boden Chair of Sanskrit was founded "to promote the translation of the Scriptures into Sauskrit" so as to enable his (Col. Boden's) countrymen to proceed in the conversion of the natives of India to the Christian religion." (Monier-Williams Dictionary, ix.)

† Mm. Haraprasada Sastri, Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Asiatic Society of Bengal. Vol. V, 1928

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

गये हैं। उन्नीसवीं शताब्दीके अन्ततक यही मत स्थिर रहा और इसपर दृढ़तापूर्वक विश्वास किया जाता था।

वेबर साहब (Mr. Weber) १८६२ ई० में लिखते हैं कि 'व्यास' एक कल्पित व्यक्ति थे, सम्पादनके अर्थमें 'व्यास' शब्द प्रचलित हुआ है, इसके सिवा कुछ नहीं है। ये* जर्मन हैं।

हापकिन्स (Hopkins) साहब इसके लगभग ३० वर्ष बाद महाभारतकी आलोचना करते समय लिखते हैं, 'अर्थात् महाभारतकी रचना एक आदमीकी की हुई नहीं है; जैसे-जैसे समय बीतता गया, सम्पादकके साथ लेखकके नामका गड़बड़झाला करके 'व्यास' नाम देकर एक काल्पनिक लेखक खड़ा कर दिया गया। आधुनिक विद्वद्वर्गने सुविधाके लिये इसको 'अज्ञात' या व्यास नाम प्रदान किया है। महाभारत विभिन्न लेखकोंके परिश्रमका फल है, उनकी लेखनशैली और विचारधारा भी विभिन्न है।' † ये अमेरिकन थे।

मैकडॉनेल साहब (Macdonell) के मतसे (१८९९ ई०)—'महाभारतमें लिखा है कि यह व्यास-प्रणीत है। यहाँ अन्ततः सम्पादककी बातमें विश्वासके सिवा और क्या है ? क्योंकि इस नामका अर्थ है 'विन्यासक'। इस विशाल महाकाव्य और नीतिवादमय विषयवस्तुके स्तूपके लिये ऐतिह्य-परम्पराने स्थूलरूपमें एक काल्पनिक लेखकका नाम उद्भावित किया है, उसकी उपाधि है 'व्यास' (विन्यासक)।' ‡ ये स्काटलैंडके निवासी थे।

इसके बाद विन्टरनिट्ज (Winternitz) (जर्मन) तथा कीथ (Keith) साहब (ब्रिटिश) आदि अन्यान्य भारत-तत्त्ववेत्ता इसी प्रकारकी बातें कहते आ रहे हैं। वे एक सुरसे कहते हैं कि 'व्यास' एक मिथ्या, काल्पनिक और अनैतिहासिक नाम है। 'व्यास' नामके किसी व्यक्तिका कभी अस्तित्व ही नहीं था। बहुत दुःखकी बात है कि भारतीय लेखकोंने भी पाश्चात्त्य प्रभुत्वके दबावमें या विजातीय शिक्षा-दीक्षाके प्रभावसे उन्हींके सुरमें सुर मिलाया है।

पाश्चात्त्य गवेषकोंमें प्रायः सभी ग्रीक, रोमन और यहूदी जातिके इतिहास, धर्म और दर्शनसे प्रभावित थे। प्राचीन ग्रीकलोग अपेक्षाकृत असभ्य थे। उनकी कोई लिपि न थी। चारण कवियोंके द्वारा मुँहमुँह वीर (hero) लोगोंकी कहानियाँ प्रचरित होती थीं। उनको क्रमशः एकत्र करके तथा और भी विषयवस्तु और उपाख्यानोंको जोड़कर अन्तमें इलियड (Iliad) और ओदिसी (Odyssey) नामक दो महाकाव्य रचे गये। इन दोनों काव्योंको किसी एक महाकविने सम्पूर्ण एक कलमसे एक समयमें लिखा हो, ऐसी बात नहीं है। बहुत-से लोगोंका विचार है कि होमेरस् (Homeros) नामक एक ग्रीकने इन दोनों काव्योंका अन्तिम सम्पादन किया था, परंतु वे मूल लेखक न थे।*

पाश्चात्त्य पुरातत्त्वज्ञोंने अपेक्षाकृत असभ्य ग्रीक जातिके इन दोनों काव्योंकी कथा सुदूर सुसभ्य भारतवर्षमें, बहुत प्राचीन कालमें लिखित, परम पवित्र शास्त्र-ग्रन्थ—रामायण और महाभारत, इन दो ऐतिहासिक ग्रन्थोंके ऊपर आरोपित की है। इन दो ग्रीक काव्योंकी उत्पत्तिके समय उस देशमें वर्णमालातक न थी। यहाँतक कि पठन-पाठनके विषयमें कोई उल्लेख भी नहीं प्राप्त होता। इन काव्योंका आकार भी अपेक्षाकृत बहुत छोटा है। दोनों मिलाकर हरिवंशके प्रायः १६००० श्लोकोंके बराबर भी नहीं हैं। रामायण (२४००० श्लोक) और महाभारत (एक लाख श्लोक) आकारमें सुबृहत् होनेके कारण सब प्रकारसे संसारके ग्रन्थोंमें सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर चुके हैं।

---

* "A mythical personage, Vyāsa, who is simply redaction personified." Weber, History of Indian Literature (1851), p. 191

† In other words, there was no one author of the great epic, though, with a not uncommon confusion of editor with author, an author was recognized called Vyāsa.......Modern scholarship calls him the unknown, or 'Vyāsa', for convenience. The great epic is the result of the labours of different writers, belonging to different schools of style and thought.—Hopkins, The Great Epic, pp. 58-59.

‡ When the Mahabharata attributes its origin to Vyāsa, it implies a belief in a final redaction, for the name simply means 'Arranger'. (Macdonell, History of Sanskrit Literature, p. 286)

"For this immense congeries of epic and didactic matter, tradition invented as the name of its author the designation of Vyāsa (arranger)." Macdonell, India's Past, p. 86.

* "At that time there was no writing. An early form of the Iliad was probably recited by 1000 B. C., but it was not written." H. G. Wells, The Outline of History, p. 277

"Greek education was almost purely *viva voce* education," *Ibid.*, p. 732

"Throughout the whole of Homer, everything is calculated to be heard, nothing to be read. Homer first undertook to combine into one great unity the scattered and fragmentary poems of earlier bards." Smith, Dictionary of Greek and Roman Biography and Mythology, Vol. 1, p. 506.

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

होमरस् एक अज्ञात व्यक्ति था, उसने बिखरी हुई चारण-कथाओंको एकत्र करके काव्यरूप प्रदान किया, यह जनश्रुति प्रचलित है। अतएव वह अज्ञात-कुल-शील सम्पादक-मात्र है, काव्यका मूल लेखक नहीं है। अतएव इन पुरातत्त्वज्ञोंने व्यासको भी तदनुसार ही एक अज्ञात काल्पनिक 'सम्पादक' घोषित कर दिया। इनके मतसे आदिकवि वाल्मीकि भी रामायण-के मूल रचयिता नहीं हैं। परंतु महर्षि कृष्णद्वैपायन गत पाँच हजार वर्षोंसे इस विशाल उपमहादेशके सारे धर्म और लौकिक साहित्यमें तथा दिन-प्रतिदिनके जीवनमें जिस प्रकार ओतप्रोत हो गये हैं, उसे देखते हुए उनको एक कलमकी नोकसे उड़ा देने या मिटा देनेका अधिकार या क्षमता किसीमें नहीं है, चाहे वे कितने ही बड़े डिग्रीधारी खोज करनेवाले साहब क्यों न हों। वेदव्यास ऐतिहासिक पुरुष थे, काल्पनिक नहीं हैं—इसके बहुत प्रमाण प्राप्त होते हैं।

महर्षि कृष्णद्वैपायन 'वेदव्यास' ऐतिहासिक पुरुष हैं—

हम वेद, वेदाङ्ग, प्राचीन संस्कृतसाहित्य आदिसे संक्षिप्त आलोचना करके दिखलाते हैं कि 'वेदव्यास' मन-गढ़ंत व्यक्ति नहीं हैं।

(क) वेद-ब्राह्मण—

वेद स्वतःप्रमाण हैं। ऋग्वेदकी वर्तमान शाकल-संहितामें कृष्णद्वैपायनका कोई मन्त्र नहीं प्राप्त होता, परंतु वे निश्चयपूर्वक मन्त्रद्रष्टा थे। अन्यथा उनकी महर्षि उपाधि न होती। सम्भवतः वे जिन मन्त्रोंके ऋषि हैं, वे किसी दूसरी संहितामें थे, जो इस समय लुप्त है। उनके पूर्वज—प्रपितामह वसिष्ठ, पितामह शक्ति तथा पिता पराशरके द्वारा दृष्ट बहुत-से मन्त्र ऋग्वेदमें हैं। वसिष्ठ और पराशरके बहुत-से शास्त्रग्रन्थ तथा अपरा-विद्याविषयक साहित्यराशि आज भी आदर-पूर्वक पढ़ी जाती है।

वेदके ब्राह्मण और आरण्यक भागमें वेदव्यासके कई उल्लेख प्राप्त होते हैं—

(१) **स होवाच व्यासः पाराशर्यः।** (तै० आरण्यक १ । ९ । २) कृष्णयजुर्वेद।

(२) **नारदो विष्वक्सेनाय, विष्वक्सेनो व्यासाय पाराशर्याय, व्यासः पाराशर्यो जैमिनये।** (सामविधान ब्रा० ३ । ९ । ८) सामवेद।

(३) **व्यासः पुरोवाच।** (गोपथ ब्रा० १ । १ । २९) अथर्ववेद।

(ख) वेदाङ्ग (कल्प और व्याकरण)

(४) बौधायन-धर्मसूत्र (२ । ५ । २७) में व्यासका उल्लेख प्राप्त है।

(५) बौधायन-गृह्यसूत्र (३ । ९ । ३) एवं

(६) भारद्वाज-गृह्यसूत्र (३ । ९) में कृष्णद्वैपायनका नाम है।

(७) पाणिनिके अष्टाध्यायी व्याकरणमें, पाराशर्यने भिक्षुसूत्रकी रचना की थी, यह कहा गया है।

'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः'

(४ । ३ । ११०)

बालमनोरमा टीका—**"पाराशर्यो व्यासः। भिक्षवः संन्यासिनः, तदधिकारिकं सूत्रं व्यासप्रणीतं प्रसिद्धम्। शिलालिनो नटाः।"**

—यहाँ ध्यानमें रखने योग्य बात यह है कि तैत्तिरीय आरण्यक और सामविधान ब्राह्मणमें भी व्यासको पाराशर्य कहा गया है।

जयादित्यने **'गर्गादिभ्यो यञ्'** (४ । १ । १०५) सूत्रकी काशिकामें कहा है—**'व्यासः पाराशर्यः।'**

अतएव सबसे प्राचीन संस्कृत-व्याकरणमें, वेदाङ्गमें स्पष्ट कहा गया है कि पराशरके पुत्र (कृष्णद्वैपायन वेद-व्यास) ने भिक्षुसूत्र (बादरायणके ब्रह्मसूत्र) की रचना की है। संस्कृतव्याकरणमें नियमोंका बाँधना अति कठोर है। विशेषतः पाणिनिसूत्रमें किसीकी एक मात्रा भी इधर-उधर हेर-फेर करना सम्भव नहीं है। अतएव यहाँ प्रक्षिप्तवादका कोई प्रश्न नहीं उठता। इस वाक्यको उड़ा देनेके लिये कोई उपाय ही नहीं रह जाता।

यह प्रमाणित हो गया कि पराशर-नन्दन व्यासदेव वैदिक पुरुष हैं, वे कभी काल्पनिक नहीं हो सकते।

(ग) महाभारतमें व्यासका नाम——

महाभारतमें द्वैपायनके ये नाम पाये जाते हैं—(१) कृष्ण, (२) कृष्णद्वैपायन (३) द्वैपायन, (४) सत्यवती-सुत, (५) सत्यवत्यात्मज, (६) पाराशर्य, (७) पराशरात्मज, (८) बादरायण, (९) वेदव्यास इत्यादि। कोषग्रन्थमें (१०) माधव, (११) कानीन, (१२) सत्यभारत, (१३) पाराशरि (१४) सत्यव्रत, (१५) सत्यरत, (१६) पाराशर (१७) वासवेय इत्यादि नाम भी हैं।

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

यहाँ ऐतिहासिक गवेषणा या प्रतिभाकी कोई आवश्यकता नहीं है। साधारण बुद्धिसे ही समझमें आ जाता है कि जिस व्यक्तिकी इतनी और इतने प्रकारकी नामावली शास्त्रों तथा अमर महाकाव्योंमें ग्रथित हुई है, वह अलीक या काल्पनिक नहीं हो सकता। वे अवश्य ही एक महापुरुष हुए हैं। पुरातत्त्वज्ञोंका अद्भुत मत कदापि ठहर ही नहीं सकता।

(घ) प्राचीन साहित्यमें कृष्णद्वैपायनकी बात।

(१) भास नाटक (पाँचवीं शताब्दी ई० पू०)

'प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण' नाटकके प्रथम अङ्कमें लिखा है कि व्यासजी उन्मत्त ब्राह्मण-वेषमें कौशाम्बीके राजप्रासादमें प्रकट हुए थे। उनके परित्यक्त वस्त्रादिके द्वारा मन्त्री यौगन्धरायणने वेषपरिवर्तन किया—

'एभिः प्रच्छादितशरीरो भगवान् द्वैपायनः प्राप्तः'

(प्रति० १। १६)

व्यासजी मार्कण्डेय हनूमान् आदिके समान चिरजीवी पुरुषके रूपमें प्रसिद्ध हैं। यह धारणा पाँचवीं शताब्दी ई० पूर्वमें भी थी। शंकराचार्यके साथ उनका साक्षात्कार और विचार हुआ था, यह कथा शंकरदिग्विजय ग्रन्थमें प्राप्त होती है। कुलदानन्द ब्रह्मचारीके 'श्रीश्री सद्गुरु सङ्गे' ग्रन्थमें वर्णित है कि गत शताब्दीके अन्तिम भागमें महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामीने व्यासजीके दर्शन किये थे।

अतएव व्यासजी केवल अपने अमूल्य शास्त्रग्रन्थोंमें ही अमर हों, ऐसी बात नहीं है। वे काल्पनिक और अज्ञात तो नहीं ही हैं बल्कि हिंदुओंका विश्वास है कि वे आज भी सशरीर वर्तमान हैं और कोई-कोई उनका दर्शन भी कर पाते हैं।

(२) कौटल्यका अर्थशास्त्र (ई० पूर्व ४९ शताब्दी) 'वृष्णिसंघश्च द्वैपायनमिति' (अ० शा० १—६, पृ० ३८) इस ग्रन्थमें द्वैपायन और उनके पिता पराशरका उल्लेख है।

(३) अश्वघोष—(ई० प्रथम शताब्दी)

व्यासके सम्बन्धमें 'सौन्दरानन्द' काव्यमें उक्त बौद्ध कवि कहते हैं—

'द्वैपायनो वेदविभागकर्त्ता।' (७—३९) अश्वघोषके काव्यमें व्यास और उनके पूर्वपुरुषोंका भी उल्लेख है।

(४) शंकराचार्य, श्वेताश्वतर-उपनिषद्-भाष्यमें कहते हैं* कि उनके परम गुरु (परात्पर सत्तम) गौडपादाचार्य (माण्डूक्यकारिका-प्रणेता) व्यासके पुत्र शुकदेवके साक्षात् शिष्य थे। शंकर-सम्प्रदायके मङ्गलाचरण श्लोकसे भी यह बात प्रमाणित होती है—

व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं
गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम्।

अतएव व्यासजीको शंकराचार्यद्वारा प्रवर्तित संन्यासी-सम्प्रदायका आदिगुरु माने बिना काम नहीं चल सकता।

(५) कुमारिलभट्टने अपने ग्रन्थ और भाष्यादिमें व्यासकृत महाभारतादिसे बहुत-से वचन उद्धृत किये हैं। उनके पहले गौडपादाचार्यने भी 'उत्तरगीताभाष्य' की रचना की है। उत्तरगीता महाभारतका ही एक अंश है। गौडपादने बहुत-से पुराणोंका भी प्रमाणरूपमें उल्लेख किया है। निस्संदेह वे भी व्यासजीको अवतारके रूपमें या अन्ततः महापुरुषके रूपमें स्वीकार करते हैं।

महाभारत तथा सभी महापुराण व्यासप्रणीत हैं, यह बात श्रीशंकराचार्यजी पूर्णतः विश्वास करते थे। उन्होंने व्यासजीका सदा 'भगवान्' उपाधिपूर्वक उल्लेख किया है तथा कई जगह कहा है कि वे स्वयं नारायणके अवतार हैं। शंकराचार्यने महाभारतसे (१) सनत्सुजातीय (उद्योगपर्व), (२) भगवद्गीता (भीष्मपर्व) तथा (३) विष्णुसहस्रनाम (अनुशासनपर्व) का भाष्य किया है। इसके सिवा उन्होंने पातञ्जल-दर्शनके व्यास-भाष्यकी विवरण-टीका† लिखी, इसमें भी कोई संदेहकी बात नहीं है।

सारांश यह है कि भारतके समस्त प्राचीन साहित्यमें व्यासजीका अस्तित्व तथा श्रेष्ठत्व स्वीकार किया गया है।

(६) व्यासवंश वर्त्तमान है।

इतिहासकी वंशावलीकी ओर देखनेपर भी व्यासजीको 'अज्ञातकुलशील' कहनेका कोई हेतु नहीं मिलता। ब्राह्मणसमाज अनादिकालसे गोत्रप्रवररूपी एक अविच्छिन्न वंशपरम्पराकी शृङ्खलामें सुविन्यस्त है। भारतमें वसिष्ठ, पराशर, पाराशर्य आदि गोत्रके बहुत-से ब्राह्मण आज भी

* तथा च शुकशिष्यो गौडपादाचार्यः। (श्वेता० उप० शांकर भाष्य १। ८)

† Madras Government Oriental Series No. XCIV (1952) में शंकराचार्यकृत पातञ्जल-दर्शनके व्यासभाष्यका 'विवरण' प्रकाशित हुआ है।

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

सशरीर विद्यमान हैं। प्रायः दो हजार वर्ष पूर्व शतपथ ब्राह्मणके भाष्यमें हरिस्वामीने अपनेको 'पाराशर्य' लिखा है।* वह अपनेको पौष्करीयक भी लिखते हैं। आश्चर्यकी बात है कि आज भी पुष्करके अधिकांश ब्राह्मण पाराशर्य-गोत्रीय हैं। वे लोग निस्संदेह व्यासके वंशज हैं।

अतएव हमने देख लिया कि क्या वैदिक शास्त्र, क्या साहित्य, क्या इतिहास—किसी भी दृष्टिसे विचार करनेपर भगवान् वेदव्यासको अनैतिहासिक, अज्ञात, काल्पनिक या मिथ्या कहनेका कोई कारण नहीं मिलता। पाश्चात्त्य पुरातत्त्ववेत्ताओंकी यह चेष्टा अत्यन्त गर्हित और गूढ़ षड्यन्त्रमूलक है, यह कहना अनुचित नहीं है।

कृष्णद्वैपायनने वेदोंका विभाग किया था, इसी कारण उनका नाम 'वेदव्यास' है, संक्षेपमें उन्हें 'व्यास' कहते हैं। महाभारत या पुराणोंको उन्होंने 'व्यस्त' नहीं किया था, ये उनके सम्पादित ग्रन्थ भी नहीं हैं, ये तो उनके द्वारा प्रणीत हैं। पाश्चात्त्य विद्वानोंने 'व्यास' नामको लेकर जो गड़बड़ी की है, उसके लिये वे ही पूर्णतः उत्तरदायी हैं।

कृष्णद्वैपायन ही ब्रह्मसूत्रकर्त्ता बादरायण हैं

वेदोंका ज्ञानकाण्ड उपनिषद् है। उसका सार ब्रह्मसूत्र, वेदान्त अर्थात् वेदोंका—ब्रह्मविद्याका चरम सिद्धान्त है। इस ग्रन्थमें कतिपय संक्षिप्त सूत्रोंमें जगत्के श्रेष्ठ आध्यात्मिक गूढ़ रहस्य विन्यस्त और प्रकाशित किये गये हैं। जैसे वेदके एक ही मन्त्रके विभिन्न अधिकारी और प्रयोजनभेदसे विभिन्न अर्थ होते हैं—जो जैसा चाहता है, उसी रूपमें प्राप्त करता है, ठीक उसी प्रकार उत्तर मीमांसा-दर्शन अधिकारि-भेदसे अनेक रूपोंमें प्रतिभात होता है। गीताप्रेससे केवल एक पृष्ठमें † अति सूक्ष्म अक्षरोंमें छपकर सारा वेदान्त-सूत्र प्रकाशित हुआ है; किंतु उसकी भाष्य, टीका, विवरण, वार्त्तिक, तात्पर्य, तिलक आदि व्याख्याएँ सहस्रों वर्षोंसे लिखी जा रही हैं, सहस्रों पृष्ठोंमें भी समाप्त नहीं हो पा रही हैं; अभी भी लिखनेका क्रम समाप्त नहीं हुआ है। क्या अद्वैत, क्या विशिष्टाद्वैत, क्या शुद्धाद्वैत, क्या द्वैताद्वैत, क्या अचिन्त्य भेदाभेद—इन सब तथा अन्यान्य वादोंका मुख्य उपजीव्य ग्रन्थ 'ब्रह्मसूत्र' है, इसके आधार-पर ही सब प्रकारके मतों और वादोंकी रचना हुई है। निम्बार्क, शंकर, रामानुज, मध्व, रामानन्द, वल्लभ आदि सिद्ध महापुरुषोंमें जिन्होंने जिस प्रकार समझा है, उसी प्रकार इस शास्त्रकी व्याख्या की है। उनकी व्याख्याओंमें कोई भी मिथ्या नहीं है। जो जिस स्तरके मनुष्य हैं, ब्रह्म भी उनके लिये इस ब्रह्मसूत्रमें उसी प्रकारका दृष्ट हुआ है।

अतएव वेदान्तदर्शन या ब्रह्मसूत्र भारतका तथा संसारका श्रेष्ठ दार्शनिक ग्रन्थ है। वर्त्तमान शताब्दीमें पाश्चात्त्य देशोंमें अद्वैतमतका प्रचार होनेके बाद वहाँ इसका परिचय और मूल्य और भी बढ़ा है। बादरायण मुनि इस दर्शनके आचार्य हैं। वे संसारमें सदाके लिये सर्वाग्रगण्य श्रेष्ठ दार्शनिक हो गये हैं, यह बात किसीको अस्वीकार्य नहीं हो सकती—यह कहना अतिरेकमात्र है।

अब प्रश्न यह है कि बादरायण हैं कौन। महर्षि कृष्ण-द्वैपायनके बहुत-से नामोंमें एक बादरायण नाम भी है। वे बदरिकाश्रममें रहते थे, यह बात भी प्रसिद्ध है। भारतमें पण्डितलोग बहुधा विभिन्न ग्रन्थोंके प्रकाशनके समय विभिन्न नामोंका व्यवहार करते हैं, इस देशकी यह एक प्राचीन प्रथा है। उदाहरणार्थ, महामति चाणक्यके आठ* नाम थे। उन्होंने अर्थशास्त्रमें 'कौटल्य' और 'विष्णुगुप्त' नामका व्यवहार किया है। अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थोंमें उनके वात्स्यायन, पक्षिलस्वामी, मल्लनाग आदि नाम पाये जाते हैं। श्रीकृष्णके मन्त्री और परम भक्त उद्धवने 'बातव्याधि' नामसे एक अर्थशास्त्रविषयक ग्रन्थ लिखा था। अतएव यह बात याद रखना असंगत नहीं है कि महर्षि वेदव्यासने ही बादरायण नामसे 'ब्रह्मसूत्र' प्रणयन किया था। यही प्रसिद्धि भारतके मनीषी चिरकालसे आजतक पोषण करते आ रहे हैं।

---

* नागस्वामि सुतोऽवन्त्यां पाराशर्यो वसन् हरिः।
श्रुत्यर्थः दर्शयामास शक्तितः पौष्करीयकः॥
—हरिस्वामिकृत शतपथ ब्राह्मणभाष्य (वेंकटेश्वर प्रेस)

† 'कल्याण' वेदान्ताङ्क (१९३६) पृष्ठ १२०।

* वात्स्यायनो मल्लनागः कुटिलश्चणकात्मजः।
द्रामिलः पक्षिलस्वामी विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्च सः॥
—हेमचन्द्र—'अभिधानचिन्तामणि' (मर्त्यखण्ड ५१८)
वात्स्यायन, मल्लनाग, कौटल्य, चाणक्य, द्रामिल, पक्षिलस्वामी, विष्णुगुप्त तथा अङ्गुल—चाणक्यके ये आठ नाम हैं। उन्होंने वात्स्यायन नामसे न्यायभाष्य और कामसूत्रकी रचना की। (त्रिकाण्डशेष, ब्रह्मवर्ग ५९-६० द्रष्टव्य है।)

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

परंतु पाश्चात्त्य गवेषकगणने हठात् अनुवादकी सहायतासे सामान्य संस्कृत सीखकर निश्चय कर डाला कि 'बादरायण' पृथक् व्यक्ति थे। उनका दृढ़ सिद्धान्त है कि 'व्यास' मिथ्या और काल्पनिक नाम है। इस विषयमें पहले कहा जा चुका है। अतएव व्यासजी ही 'बादरायण' नामसे ब्रह्मसूत्रके रचयिता हैं या नहीं, इस विषयमें वे लोग किसी प्रकारकी आलोचना ही नहीं करते। वे इस तर्कको व्यर्थ समझकर इधर ध्यान ही नहीं देते। यहाँतक कि कीथ (Keith) आदि लेखकोंने ब्रह्मसूत्रके बादरायणप्रणीत होनेमें भी संदेह प्रकट किया है।*

सबसे दुःखकी बात यह है कि पाश्चात्त्य शिक्षामें दीक्षित भारतीय विद्वद्वर्गने वाग्-मीमांसातक न करके असहाय अबोध शिशुके समान इस सिद्धान्तको भी प्रकारान्तरसे मान लिया है। सत्य स्वयं प्रकाशित होता है। ये लोग यथार्थ बात न जानते हों, ऐसी बात नहीं है। परंतु इनकी रचनामें व्यासका नामतक दुष्प्राप्य है। ब्रह्मसूत्रकी आलोचनाके समय ये सभी प्रायः बादरायणका नाम लेते हैं। किंतु वे बादरायण और वेदव्यास एक ही व्यक्ति हैं या नहीं, इस प्रश्नको चतुराईसे टाल देते हैं।

भारतीय तत्त्वविद्या (Indology) और संस्कृत साहित्यका इतिहास दारुण और मर्मभेदी मिथ्याचारसे पूर्ण है। पराधीनताका नागपाश एक निर्भीक, सत्यप्रिय जातिको किस प्रकार पङ्गु, दुर्बल और दास-मनोवृत्तिका बना डालता है, इसका यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

(शेष अगले अङ्कमें)

प्रीति किससे करनी चाहिये ?

प्रीति उसीसे कीजिये, जो ओड़ निभावै।
विना प्रीति के मानवा, कहिं ठौर न पावै॥
नाम सनेही जब मिलै, तब ही सचु पावै।
अजर अमर घर ले चलै, भव-जल नहिं आवै॥
ज्यों पानी दरियाव का, दूजा न कहावै।
हिल मिल एकौ है रहै, सतगुरु समुझावै॥
दास कबीर बिचारि कै, कहि कहि जतलावै।
आपा मिटि साहिब मिलै, तब वह घर पावै॥

—संत कबीर

---

* केवल विलसन (Wilson) ने व्यास और बादरायणको एक ही व्यक्ति माना है। साधारणतः ब्रह्मसूत्रकी आलोचनाके समय कोई व्यासका नाम भी नहीं लेता। जेकोबि (Jrcobi) के मतसे बौद्ध शून्यवादके प्रादुर्भावके बाद २०० से ४५० ई० के बीच न्यायदर्शन और ब्रह्मसूत्रकी रचना हुई है। उनका कथन है कि पातञ्जल और वैशेषिक दर्शन अपेक्षाकृत कुछ प्राचीन हैं।

किसी-किसी लेखकके मतसे बादरायण एक नहीं, अनेक हो गये हैं। कीथ कहते हैं कि ब्रह्मसूत्र भी अन्यान्य ग्रन्थोंके समान दीर्घकालीन दार्शनिक मतवादकी आलोचनाका फल है। पूर्व-मीमांसा या ब्रह्मसूत्र जैमिनि या बादरायणके द्वारा अकेले प्रणीत नहीं हैं, बल्कि उनके अनुवर्ती शिष्य-प्रशिष्योंके द्वारा क्रमसे दोनों ग्रन्थोंके सूत्र ग्रथित हुए हैं। (History of Sanskrit Literature, xxi, 898).

हिंदू दर्शनशास्त्रोंके मूलमें इस प्रकार कुठाराघात करनेके बाद इस प्रख्यात भारतीयतत्त्वज्ञने शंकराचार्यके ज्ञानकी सीमाको मापनेकी चेष्टा की है। वे कहते हैं कि शंकराचार्यकी युक्ति और तर्ककी शक्ति असीम थी, परंतु उन्होंने बादरायणके मतके विपरीत व्याख्या की है। अवश्य ही उनका उपनिषद्भाष्य बहुत-कुछ न्यायसंगत है।

—Keith, History of Sanskrit Literature, p. 899.

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

भक्ति पञ्चम पुरुषार्थ

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥
(गीता)

मन्दराचल पार्थिव पर्वत नहीं है। इस दिव्य गिरिपर सुर भी संकोच एवं श्रद्धाके साथ ही उतरते हैं। काकभुशुण्डिकी अनेक कल्पोंसे यह साधनास्थली—मायाका आच्छन्न करनेवाला प्रभाव इसके समीप नहीं आता। त्रेताके अन्तमें जब मर्यादापुरुषोत्तम अपने दिव्यधाम पधारे, पवनकुमारने भी पृथ्वीकी अपेक्षा इस पर्वतपर ही अधिक रहना प्रारम्भ कर दिया। वे भी इसकी गुफाओंमें, सघन काननोंमें आराध्यका चिन्तन करते नित्य तन्मय रहने लगे। वैसे तो जहाँ-जहाँ धरापर श्रीरामका यशोगान होता है, अपने एक रूपसे वे उपस्थित रहते ही हैं।

दिव्य लता-तरु, पुष्पित-पल्लवित, फलमधुर वन-भूमि और रत्नोज्ज्वल गुफाएँ। अब तो न केवल पशुओंका नाद, पक्षियोंका कलरव, भ्रमरोंका गुञ्जन ही, अपितु निर्झरोंका शब्द भी एक ही स्वर अहर्निश उठाया करता है—

राम राम राम सीता राम राम राम।
राम राम राम सीता राम राम राम॥

पुलक-प्रफुल्लित-स्वर्णाङ्ग, अजस्र-स्रवित-लोचन पवनपुत्र आजकल इस क्षीराब्धिधौतचरण उत्तुङ्ग शिखर-को धन्य करते हैं। जैसे उनके अन्तरका आह्लाद पर्वतके कण-कणको रसार्द्र किये दे रहा है! पत्ता-पत्ता आनन्द-नर्तन कर रहा है उनके स्वरके साथ।

गगनसे जैसे मयंक भूमिपर आ जाय, इस प्रकार मन्दरके शिखरपर उतर आया अमितौजा। वह उतर तो आया किंतु उसे स्मरण नहीं कि क्यों आया है वहाँ। उसके पद कब नृत्य करने लगे, कब उसका कण्ठ उस संकीर्तन-ध्वनिका साथ देने लगा—उसे कुछ स्मरण नहीं। वह तो आत्मविस्मृत हो गया क्षणार्धमें।

'तुम्हारा जन्म अयोध्यामें हुआ है।' भगवान् ब्रह्माने उससे कहा था। 'ज्ञानियोंके मुकुटमणि श्रीआञ्जनेय ही तुम्हारे गुरु हो सकते हैं। मन्दराचलपर तुम उनके दर्शन कर सकते हो।'

वह हिमालयके गर्भमें स्थित दिव्यपुरी कलापग्रामसे ब्रह्मलोक गया था और सृष्टिकर्ताने उसे मन्दराचलपर भेज दिया; किंतु वह तो भूल ही गया कि क्यों वह यहाँ आया और उसे क्या करना है। मन्दराचलका वायुमण्डल वैसे भी हृदयको भक्ति-विभोर कर देनेवाला है। काकभुशुण्डिजी-का प्रभाव ही वहाँ एक अद्भुत उन्मद वातावरण बनाये रखता था और जबसे श्रीरामदूत वहाँ आये हैं देवताओं और गन्धर्वोंमें तो यह प्रवाद प्रसारित हो गया है—'स्वर्गमें रहना हो तो मन्दरगिरिका प्रकाश जहाँतक जाता है, उतने क्षेत्रसे दूर रहो। वहाँ जो गया, वह कदाचित् ही लौटकर आयेगा। देवर्षि नारद-जैसे परिव्राजकोंका सम्प्रदाय वह पर्वत बढ़ाने लगा है।'

कलापग्रामका अविचल योगी अमितौजा, वह ब्रह्म-लोकसे चला था तो किसी अप्सराने कहा था—'मुनिवर! यह गाम्भीर्य बनाये रखना हो तो मन्दरका मार्ग मत अपनाना!'

अप्सरा—अपवर्गके साधकोंके पथमें विघ्नके रूपमें ही अमितौजा इस वर्गको जानता है। उसने दृष्टि उठाकर देखातक नहीं कि उसे चेतावनी किसने दी। उसका गाम्भीर्य, उसकी शान्ति, उसकी स्थिरता क्या कृत्रिम है कि उसके भङ्ग होनेका भय हो?

'अप्सराका कार्य ही विघ्न करना है।' अमितौजाको चेतावनी केवल विघ्नका प्रयत्न जान पड़ी थी। लोकस्रष्टाने उसे मन्दराचलपर ही जानेकी आज्ञा दी थी। अब इस अद्भुत गिरिपर पहुँचकर उसे स्वयंका ही पता नहीं तो उसके द्वारा क्या हो रहा है, इसको वह कैसे समझ सकता है।

× × ×

जब मर्यादा-पुरुषोत्तमके आत्मज कुशने अपनी राजधानी अयोध्या बनायी, उस समय उसका जन्म हुआ था। ब्राह्मणका पुत्र बचपनसे ही शान्त और गम्भीर हो, उचित ही था। पाँच वर्षकी अवस्थामें ही उपनयन-संस्कार करके माता-पिताने गुरुकुल भेज दिया उसे। अपनी सेवासे श्रीवशिष्ठनन्दन महर्षि शक्तिको संतुष्ट किया उसने।

महाराज कुशको यज्ञ करना था। गुरुदेव शक्ति यज्ञिय

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

ऋत्विक् कलापग्रामसे ले आना चाहते थे। स्वयं अपनी योगशक्तिसे तो वे उस दिव्य क्षेत्रमें गये ही; साथमें बालक अमितौजाको भी लेते गये; क्योंकि उसका आग्रह गुरुदेवके साथ युगजीवी उन महापुरुषोंके दर्शन करनेका था।

'इसे तुम यहीं रहने दो!' महायोगी वृद्धश्रुतने आदेश दे दिया अकस्मात्। 'इस बालकमें योगसिद्ध पुरुषके लक्षण हैं। संसारी इसे बनना नहीं है।'

महर्षि शक्तिको उन ज्ञान-वय-तपोवृद्धका आदेश स्वीकार करना पड़ा। बालक अमितौजाको बहुत प्रसन्नता हुई कि वह इस अतिमानव क्षेत्रमें निवासका सुयोग प्राप्त कर सका।

आरम्भके केवल तीन दिन महायोगी वृद्धश्रवाके उसे दर्शन हुए। उसकी खोज-खबर इससे अधिक रखनेकी आवश्यकता नहीं थी। कुछ दिव्यौषधियोंका सेवन कराया गया उसे आवक्ष अलकनन्दाके हिम-प्रवाहमें स्थित करके और कुछ सामान्य आदेश दिये गये।

कलापग्राम दिव्यदेही योगियोंकी भूमि है। स्थूल-वाग्व्यवहार वहाँ चलता नहीं। अमितौजाको जब आवश्यकता हुई, उसे सदा ऐसा लगा कि कोई उसके भीतर ही बैठा उसे समझाता है, उसे आदेश देता है, उसे सम्हालता है। अध्ययन और साधन साथ-साथ चलते रहे; किंतु दैहिक दृष्टिसे अपनी गुफामें वह एकाकी ही था। कालका उसके लिये महत्त्व नहीं रह गया था। क्षुधा-पिपासा, आलस्य-तन्द्रा-निद्रा, रोग-शोकका प्रवेश उस दिव्य क्षेत्रमें नहीं है। देह जहाँ क्षण-क्षण क्षीण होता है, आयुको लेकर ही काल-गणना वहाँ होती है। कलापग्राममें तो काल जैसे स्थिर हो गया है।

'आत्मतत्त्वकी अपरोक्षानुभूति क्या है?' अन्तःकरण निर्मल हुआ, विक्षेप-विरहित हुआ और श्रुति-शास्त्रका सम्यक् अध्ययन हुआ तो जिज्ञासाको जाग्रत् ही होना था। आश्चर्य यह था कि जैसे अन्य सभी प्रश्नोंके उत्तर उसे अपने भीतर मिल जाते थे, जैसे वहाँ अलक्ष्य रहनेवाले महापुरुष संकल्पकी भाषामें अबतक उसके अध्ययन एवं साधनका संचालन करते आ रहे थे, वैसे इस जिज्ञासाका उत्तर उसे नहीं मिला। किसीने उसे उत्तर देनेकी अनुकम्पा नहीं की।

'आत्मा प्रतिशरीर भिन्न है तो कोई सर्वव्यापक सत्य सम्भव कैसे है?' वह चिन्तन करके किसी निश्चयपर पहुँच नहीं पा रहा था। 'आत्मा विभु है, श्रुति कहती तो यही है; किंतु इस तथ्यका अपरोक्ष क्यों नहीं होता?'

लगता था कि उसे यहाँके महापुरुषोंने एकाकी छोड़ दिया है। कलाप-ग्राममें किसीका भी दैहिक अन्वेषण व्यर्थ है, यह वह जानता था। जबतक वे योगसिद्धवपु स्वयं दर्शन देना न चाहें, उनका दर्शन पाया नहीं जा सकता। उसने मानसिकरूपसे आर्त पुकार की; किंतु लगता था कि उसका संकल्प उनमेंसे किसीतक पहुँच नहीं रहा था। सब-के-सब महापुरुष साथ ही समाधिमें स्थित हो गये हों, यह भी असम्भव नहीं था।

'तब श्रुतिके परमोपदेष्टा ही मेरा मार्ग-दर्शन करेंगे।' उसने सीधे ब्रह्माजीके दर्शन करनेकी इच्छा की। दीर्घ-कालीन साधनाने उसे समर्थ बना दिया था। ब्रह्मलोक पहुँचना उसके लिये कोई समस्या नहीं थी।

'मुझसे क्या त्रुटि हुई कि मेरा प्रश्न अनुत्तरित रह गया है?' उसने भगवान् ब्रह्मासे पूछा—'किस अपराधके कारण महात्माओंने मेरा त्याग किया है?'

'कोई त्रुटि—कोई अपराध नहीं।' पितामहने सस्नेह उसकी ओर देखा। 'प्रत्येक साधकका एक अधिकार होता है। साधनके कुल हैं। जो जिस कुलका है, उस कुलका परमाचार्य ही उसका पथ-प्रदर्शक है। तुम कलाप-ग्रामके योगनिष्ठ कुलके नहीं हो। तुम्हारे परिमार्जन—परिशोधन तकको सहायता ही वहाँसे उपलब्ध हो सकती थी।'

'आप सृष्टिके परमगुरु हैं। समस्त कुलोंके आप कुलपति हैं।' अमितौजाने स्रष्टाकी स्तुति करके प्रार्थना की। 'इस अज्ञ शरणागतपर आप अनुग्रह करें।'

लोकपितामह बहुत व्यस्त रहते हैं। सृष्टिका कर्म सहज नहीं है। अनन्त-अनन्त जीव, उन जीवोंके पृथक्-पृथक् कर्म-संस्कार और फिर उनका परस्पर सम्बन्ध बड़ा जटिल है। किसीको जिसका पुत्र बनाना है, उसके कर्म किसी और-से उलझे हैं। जीवको देह देनेमें भी सृष्टिकर्ता पूरे सावधान रहते हैं। जड यन्त्रका निर्माण सदा एक-सदृश होता है; किंतु स्रष्टा तो चेतन हैं। दो प्राणी—दो मनुष्य सृष्टिके आदिसे अन्ततक एक आकृतिके उन्हें नहीं बनाते हैं। दो व्यक्तियोंके अँगूठेकी रेखाएँतक एक-जैसी नहीं। इस व्यस्ततामें उपदेश देनेका अवकाश कहाँसे निकालें वे? उन्होंने अमितौजाको मन्दराचलपर श्रीहनुमान्‌जीके समीप जानेको कह दिया।

× × ×

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

'भद्र तुम ?' जहाँ कालकी कला नहीं चलती, वहाँ समय कितना बीता व्यर्थ प्रश्न है । श्रीहनुमान्‌जी स्वयं सावधान न होते, उनकी तन्मयता इतनी प्रबल थी कि अमितौजाको बाह्यसंज्ञा आती नहीं थी।

'सृष्टिकर्ताने मुझे श्रीचरणोंमें भेजा ।' पद-वन्दनके अनन्तर परिचय देकर अमितौजाने कहा। 'धन्य हो गया यह जन ।'

'अनन्तका स्वभाव ही है कि वह स्वयंको भी सम्पूर्ण रूपमें देख नहीं सकता और चेतन होनेसे प्रकाशित करना भी उसका स्वभाव है ।' श्रीरामदूतने समझाया। 'जब अपनेको ही अपूर्णरूपमें वह प्रकाशित करता है, 'अहं-इदं' की भ्रान्ति अवकाश पा जाती है । 'इदं'के रूपमें प्रतीयमान समस्त प्रपञ्च 'अहं'से अभिन्न है ।'

आवरण हो तो निवृत्त हो । अपरोक्षानुभव शब्दसे जिसका संकेत किया जाता है, वह स्थिति अर्थात् अविद्या-निवृत्ति तो तभी हो गयी थी, जब वह इस आश्रमकी सीमामें आया था। दो क्षण मौन बना रहा—जैसे उस शब्दातीत स्थितिमें पुनः तन्मय हो गया हो।

'यह निर्गुणबोध बहुत कुछ बुद्धिगम्य है ।' अमितौजाने अब नवीन जिज्ञासा प्रकट की। 'किंतु स्वयं सृष्टिकर्ता जिन्हें ज्ञानियोंके मुकुटमणि कहते हैं, उनका यह भक्ति-तन्मयभाव बुद्धिगम्य नहीं हो रहा है ।'

'भद्र ! तुम स्वयं प्रमाण हो इस सम्बन्धमें ।' श्रीरामदूतने कोई व्याख्या नहीं की।

'अपरोक्षानुभव शब्दातीत स्थिति है ।' अमितौजा गम्भीर हो रहा था। 'किंतु आपके सांनिध्यमें आकर जिस उच्छलित आनन्दका—जिस तन्मयताका अनुभव हुआ, यह अपूर्व है, अचिन्त्य है। इसकी किसी कलाकी भी तुलना नहीं। यह क्या है प्रभु ? कैसे प्राप्त हो यह अवस्था ?'

'यही भक्ति है, भद्र !' गद्गद स्वर हुआ वायुनन्दनका। 'भक्ति की नहीं जाती। जो की जाती है, वह तो साधना है। भक्तिके लिये और साधना भी क्या ? भक्ति साधन-साध्या नहीं है। वह स्वयं फलरूपा है । वे करुणा-वरुणालय श्रीराघवेन्द्र प्रदान करें तो उनके चरणोंमें भक्ति होती है। भक्तिकी साधना—कुछ तो करना ही है मनुष्यको; अतः उनके नाम, रूप, लीला, अर्चा-विग्रहादिका सेवन करता है वह। उसका यह प्रयास—शिशुका प्रयास उसके अनुसार ही तो होगा। वे तो अनन्त कृपासिन्धु हैं । भक्ति तो उनका प्रसाद है ।'

'यह सगुण तत्त्व—सगुण परमेश्वरमें ही भक्ति सम्भव है; किंतु' अमितौजा कहते हुए भी स्वयं संकुचित हो रहा था। 'विचार करनेपर सगुणकी उपलब्धि बहुत कठिन लगती है ।'

'तुम संकोच कर रहे हो, वत्स !' स्नेहसे हनुमान्‌जीने समझाया। 'बुद्धिके द्वारा परमतत्त्वके रूपमें सगुणकी उपलब्धि नहीं होती, यह तुम्हारा मन्तव्य उचित है। निर्गुण बोधगम्य है, अतः उसमें बुद्धिका प्रवेश है । सगुण बोधगम्य नहीं है, श्रद्धैकगम्य है और श्रुति-शास्त्र उसमें प्रमाण हैं । सगुण-निर्गुण—उभय-अभिन्नरूप एक अद्वितीय सच्चिदानन्द परमतत्त्व है। सत्‌के रूपमें उसकी उपलब्धिसे तुम परिचित हो । चित्‌के रूपमें उपलब्धिका अर्थ है अपरोक्षानुभव—ज्ञानमें अवस्थिति; किंतु आनन्दके रूपमें उपलब्धि तो श्रद्धाके माध्यमसे ही सम्भव है ।'

'आनन्द ही तो प्राणिमात्रका परमप्राप्तव्य है ।' अचानक अमितौजा चौंका। उसे अर्थ, धर्म और काम कभी पुरुषार्थ जान नहीं पड़े थे। पुरुषका अर्थ—प्राप्तव्य धन नहीं हो सकता। धन धर्मके लिये या भोगके लिये। भोग विषयी, पामर, पशुओंका—अज्ञानियोंका प्राप्तव्य होता है। भोगका फल दुःख है। दुःख किसीका प्राप्तव्य नहीं है। धर्मका फल धन या भोग—व्यर्थ बात। धर्मका फल अन्तःकरणकी शुद्धि और इस शुद्धिका फल आत्मज्ञान-मोक्ष। मोक्ष ही एकमात्र मनुष्यका पुरुषार्थ है—प्राप्तव्य है, अबतक वह यही मानता आया है। लेकिन मोक्ष—परमशान्ति ही क्या जीव चाहता है ? जीव तो चाहता है आनन्द—उच्छलित, अभङ्ग, अखण्ड आनन्द।

'पुरुषार्थ—पुरुषके श्रमसे-साधनसे जो प्राप्त हो सके, वह परमाभीष्ट मोक्ष ही है ।' श्रीहनुमान्‌जीने उसके प्रश्नकी अपेक्षा नहीं की । अतः लौकिक दृष्टिसे शास्त्र चार ही पुरुषार्थ कहता है । अपने व्यक्तित्वको उन कृपामयके चरणोंपर उत्सर्ग करके उनके प्रसादरूपसे प्राप्त होनेवाली भक्ति पुरुषके प्रयत्नसे साध्य नहीं है। इतना होनेपर भी परमाभीष्ट होनेसे भक्ति ही पञ्चम एवं परम पुरुषार्थ है ।'

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

रस (प्रेम)-साधनकी विलक्षणता

(गीताभवनमें हनुमानप्रसाद पोद्दारके एक प्रवचनके आधारपर)

स्वरूपतः तत्त्व एक होनेपर भी रस-रूप भगवान् और रसकी साधना—प्रेम-साधना कुछ विलक्षण होती है। रस-साधनामें एक विलक्षणता यह है कि उसमें आदिसे ही केवल माधुर्य-ही-माधुर्य है। जगत्में दुःख-दोष देखकर जगत्का परित्याग करना, भोगोंमें विपत्ति जानकर भोगोंको छोड़ना, संसारको असार समझकर इससे मनको हटाना—ये सभी अच्छी बातें हैं, बड़े सुन्दर साधन हैं, होने भी चाहिये। पर रसकी साधनामें कहींपर भी खारापन नहीं रहता। इसलिये किसी वस्तुको वस्तुके नाते त्याग करनेकी इसमें आवश्यकता नहीं रहती। प्रेमकी—रसकी साधना स्वाभाविक चलती है रागको लेकर। रस ही राग है, राग ही रस है। अतः भगवान्में अनुरागको लेकर रसकी साधनाका प्रारम्भ होता है। एकमात्र भगवान्में अनन्य राग, तो अन्यान्य वस्तुओंमें रागका स्वाभाविक ही अभाव हो जाता है। इसलिये किसी वस्तुका न तो स्वरूपतः त्याग करनेकी आवश्यकता होती और न किसी वस्तुमें दोष-दुःख देखकर उसे त्याग करनेकी प्रवृत्ति होती है। उन वस्तुओंमेंसे राग निकल जानेके कारण कहीं द्वेष भी नहीं रहता। ये राग-द्वेष द्वन्द्व हैं। जहाँ राग है, वहाँ द्वेष है। जहाँ द्वेष है, वहाँ राग भी है। द्वन्द्वकी वस्तु अकेली नहीं होती। इसीलिये उसका नाम 'द्वन्द्व' है। सो या तो ज्ञानी विचारके द्वारा द्वन्द्वातीत होते हैं या ये रसिक लोग—प्रेमीजन द्वन्द्वोंसे अपने लिये अपना कोई सम्पर्क नहीं रखकर उन द्वन्द्वोंके द्वारा ये अपने प्रियतम भगवान्को सुख पहुँचाते हैं और प्रियतमको सुख पहुँचानेके जो भी साधन हैं, उनमेंसे कोई-सा साधन भी त्याज्य नहीं, कोई-सी वस्तु भी हेय नहीं। एवं उन वस्तुओंमें कहीं आसक्ति है नहीं कि जो मनको खींच सके। इसलिये रसकी साधनामें कहींपर कड़वापन नहीं है। उसका आरम्भ ही होता है माधुर्यको लेकर, भगवान्में रागको लेकर। राग बड़ा मीठा होता है। रागका स्वभाव ही है मधुरता। जिसमें हमारा राग हो जाय, जिसमें हमारा प्रेम हो जाय, उसका प्रत्येक पदार्थ, उससे सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु सुखप्रदायिनी हो जाती है, सुखमयी बन जाती है। यह रागका—प्रेमका स्वभाव है। वह राग जहाँपर भी है, जिस किसी वस्तुमें है, वही वस्तु सुखाकर हो जाती है और यह रस-साधना शुरू होती है रागसे ही। इस साधनाकी बड़ी सुन्दर ये सब चीजें हैं समझनेकी, सोचनेकी, पढ़नेकी और वास्तवमें साधना करनेकी।

इस रसकी साधनामें सबसे पहला साधन होता है पूर्वराग। यह प्रियतम भगवान् श्रीश्यामसुन्दरके, भगवान् श्रीराघवेन्द्रके, किसीके भी प्रेमास्पदके गुणको सुनकर, उनके नामको सुनकर, उनके सौन्दर्य-माधुर्यकी बात सुनकर, उन्हें स्वप्नमें देखकर, उनकी मुरलीध्वनि या नूपुरध्वनि सुनकर, उनकी चर्चा सुनकर, कहीं दूरसे उन्हें देखकर, उनकी लीलास्थलीको देखकर मनमें जो एक आकर्षण पैदा होता है, मिलनेच्छाका उदय होता है, उसे पूर्वराग कहते हैं। पूर्वरागका जहाँ उदय हुआ, वहीं जिसके प्रति रागका उदय हुआ, उसको प्राप्त करनेके लिये, उसको पुनः-पुनः देखनेके लिये, उसके बार-बार गुण सुननेके लिये, उसकी चर्चा करनेके लिये, उसकी निवासस्थली देखनेके लिये सारी इन्द्रियाँ, सारा मन व्याकुल हो उठता है। जहाँ भोगोंके लिये होनेवाली व्याकुलता निरन्तर दुःखदायिनी होती है, वहाँ यह भगवान्के लिये होनेवाली व्याकुलता अत्यन्त दुःखदायिनी होनेपर भी परम सुख-स्वरूपा होती है। भगवान्के अतिरिक्त जितने भी विषय हैं, जितने भी

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

भोग हैं, सभी दुःखयोनि हैं, दुःखप्रद हैं, कोई भी वस्तुतः सुखस्वरूप नहीं है, इनमें तो सुखकी मिथ्या कल्पना की जाती है। ये भगवान् सर्वथा सर्वदा अपरिमित अनन्त सुखस्वरूप हैं। यही बड़ा भेद है। जितने भी इस लोकके, परलोकके, जगत्के भोग हैं, कोई भी सुख-स्वरूप नहीं है, आनन्दस्वरूप नहीं है। उनमें अनुकूलता होनेपर सुखकी कल्पना होती है, सुखका मिथ्या आभास होता है। उनमें सुखकी सत्ता नहीं है। भगवान् हैं अनन्त सुख-सागर। आनन्द भगवान्का स्वरूप है। आनन्द भगवान्में है, सो नहीं। आनन्द भगवान्का स्वरूप ही है। वह आनन्द नित्य है, अखण्ड है, अतुलनीय है और अनन्त है। वह आनन्द साक्षात् सच्चिन्मय भगवद्रूप है। इसलिये उन आनन्दस्वरूप भगवान्में जिसका राग होता है, उसको आरम्भसे ही आनन्दकी ही स्फूर्ति होती है, अतः प्रारम्भसे ही उसे सच्चित्-आनन्दके दर्शन होते हैं, आनन्दका ही सतत सङ्ग, निरन्तर आस्वाद मिलता है। इस रसकी साधनामें आरम्भसे ही भगवान् सुखस्वरूपमें पूर्वराग होता है। सुखस्वरूप भगवान्-में राग जो होता है, वह भगवान्की मिलनेच्छा उत्पन्न करता है और वह वियोग अत्यन्त दुःखदायी होता है। भगवान्-के विरहमें जो अपरिसीम पीड़ा होती है, उसके सम्बन्धमें कहते हैं कि वह कालकूट विषसे भी अधिक ज्वालामयी होती है। वह महान् पीड़ा नवीन कालकूट विषकी कटुता-के गर्वको दूर कर देती है—

पीडाभिर्नवकालकूटकटुतागर्वस्य निर्वासनः।

पर उस विषम वियोग-विषमें उस विषके साथ एक बड़ी विलक्षण अनुपम वस्तु लगी रहती है—भगवान्की मधुरातिमधुर अमृतस्वरूप चिन्मयी स्मृति। भगवान्की यह स्मृति नित्यानन्तसुखस्वरूप भगवान्को अंदरमें ला देती है। फिर वह विष विष नहीं रह जाता। भयानक विष होते हुए भी वह देवलोकातीत भागवत-मधुर विलक्षण अमृतका आस्वादन कराता है। इसलिये भगवान्के मिलनकी आकाङ्क्षाके समय भगवान्के जिस अमिलन-जनित तापमें जो परमानन्द है, वह परमानन्द किसी दूसरे विषयके अमिलनपर उसके मिलनेकी आकाङ्क्षामें नहीं। इस तापमें परमानन्द हुए बिना रह नहीं सकता; क्योंकि भगवान् परमानन्दस्वरूप हैं। भोग-वस्तुएँ सुख-स्वरूप नहीं हैं। इसलिये उनका अमिलन कभी सुखदायी नहीं हो सकता, वह दुःखप्रद ही रहेगा। अतएव इस रसकी साधनामें, प्रेमकी साधनामें प्रारम्भसे ही भगवान्का सुखस्वरूप साधकके रागका विषय होता है। भगवान्का कण-कण आनन्दमय है, रसमय है। वहाँ उस रस-मयताके अतिरिक्त, उस रसके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुकी कोई भी सत्ता नहीं है, भाव नहीं है, अस्तित्व नहीं है, होनापन नहीं है। वहाँ प्रत्येक रोम-रोममें केवल भगवत्स्वरूपता भरी है और भगवत्स्वरूपताका परमानन्द उसका स्वाभाविक सहज रूप है। वस्तुतः जहाँ-जहाँ भगवान्की स्मृति है, वहाँ-वहाँ भगवद्रसका समुद्र लहरा रहा है। अतएव आनन्दमय भगवान्को प्राप्त करनेके लिये, रसरूप भगवान्को प्राप्त करनेके लिये, प्रेमके द्वारा प्रेमास्पद भगवान्को प्राप्त करनेके लिये, भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये जिस प्रेम-साधनकी—रस-साधनकी निष्ठा होती है, आरम्भसे ही उसमें वह परम सुखका—परम माधुर्यका आस्वादन मिलता है। तो फिर भगवान्के विरहमें दुःखका होना क्यों माना गया है? विष क्यों बताया गया है? उसमें कालकूटसे भी अधिक विषकी कटुता क्यों कही गयी है? इसका उत्तर यह है कि वह भगवान्के मिलनकी आकाङ्क्षा संसारके भोगोंको प्राप्त करनेकी आकाङ्क्षासे अत्यन्त विलक्षण होती है। यहाँ जो संसारका, संसारकी वस्तुओंका, प्राकृत पदार्थोंका प्राप्त होना है, वह यह अर्थ नहीं रखता कि वही वस्तु प्राप्त होनी चाहिये। एक वस्तुकी प्राप्ति न हो तो, दूसरी वस्तुसे संतोष हो सकता है। यहाँ तो विनिमय चलता है। एक वस्तु न मिली तो वैसी ही

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

दूसरी वस्तुसे काम चल गया। एक खिलौना न मिला तो बच्चेको दूसरा देखनेको मिल गया। पर वहाँ भगवान्‌के प्रेममें उस प्रेमके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुके मिलनेकी आकाङ्क्षा कदापि नहीं होती; क्योंकि अन्य कोई भी वस्तु उसकी पूर्ति कर ही नहीं सकती। किसी दूसरी वस्तुसे उस कामनाकी तृप्ति नहीं हो सकती। इसलिये भगवान्‌के मिलनके मनोरथमें जो संताप होता है, वह संताप इतना तीव्र होता है कि दूसरी किसी वस्तुसे, किसी भी परिस्थितिसे वह मिट ही नहीं सकता। इसीलिये वह अत्यन्त तीव्र होता है। उसकी तीव्रता जबतक भगवान् नहीं मिलते, उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है।

यह अवश्य ही बड़ी मनोहर बात है कि भगवान्‌में परस्पर विरोधी गुण—धर्म युगपत् रहते हैं, जो भगवान्‌की भगवत्ताका एक लक्षण माना जाता है और यह कहा जाता है कि जिसमें परस्पर विरोधी गुण-धर्म एक साथ, एक समयमें रहें, वह भगवान् है। जहाँ गरमी है, वहाँ सर्दी नहीं है; जहाँ दुःख है, वहाँ सुख नहीं है, जहाँ मिलन है, वहाँ अमिलन नहीं है और जहाँ भाव है, वहाँ अभाव नहीं है। इस प्रकार दो विरोधी वस्तु जगत्‌में एक साथ एक समय नहीं रहतीं। यह नियम है। परंतु भगवान् ऐसे विलक्षण हैं—

अणोरणीयान् महतो महीयान्।
(कठ० १।२।२०)

वे अणु-से-अणु भी हैं और उसी समय वे महान्-से-महान् भी हैं।

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
(ईश० ५)

'वे चलते हैं और नहीं भी चलते, वे दूर हैं और पास भी हैं।' वे एक ही समय निर्गुण भी हैं, उसी समय वे सगुण भी हैं। वे निराकार हैं, उसी समय वे साकार भी हैं। उनमें युगपत्—एक साथ परस्पर-विरोधी गुण-धर्म रहते हैं। और जिस प्रकार भगवान्‌में परस्पर-विरोधी गुण-धर्म एक साथ निवास करते हैं, उसी प्रकार-से वे परस्पर-विरोधी गुण-धर्म भगवत्प्रेममें, भगवत्प्रेमकी साधनामें भी एक साथ रहते हैं। वहाँ प्रेम-साधनामें और प्रेमोदयके पश्चात् भी हँसनेमें रोना और रोनेमें हँसना चलता है। रोना विरह-विकलताजनित पीड़ाका और हँसना मधुरस्मृतिजनित आनन्दका। दोनों साथ-साथ चलते हैं। क्यों साथ चलते हैं? यह बिल्कुल युक्तिसंगत बात है। जिसके लिये वे रोते हैं, उसकी स्मृति है; स्मृति न हो तो किसके लिये रोना और स्मृति है तो उसके सांनिध्यका आनन्द साथ है। अतः रोना और हँसना—ये दोनों इस रसके साधनमें साथ-साथ चलते हैं। वस्तुतः वह रोना भी हँसना ही है। वह रोना भी मधुर है, मधुरतर है। फिर एक बात—ये मिलन और वियोग प्रेमके दो समान स्तर हैं। इन दोनोंमें ही प्रेमीजनोंकी भाषामें, प्रेमीजनोंकी अनुभूतिमें समान 'रति' है। तथापि यदि कोई उनसे पूछे कि 'तुम दोनोंमेंसे कौन-सा लेना चाहते हो, एक ही मिलेगा—संयोग या वियोग?' यह बड़ा विलक्षण प्रश्न है। जो प्राणाराम है, जो प्राणप्रियतम है, जो प्राणाधार है, जिसका क्षणभरका विछोह भी अत्यन्त असह्य है, जिसके बिना प्राण नहीं रह सकते, वह मिले या उसका वियोग रहे? हमसे पूछा जाय कि 'तुम दोनोंमेंसे कौन-सा चाहते हो' तो स्वाभाविक हम यही कहेंगे—'हम मिलन चाहेंगे, संयोग चाहेंगे, वियोग कदापि नहीं।' पर इन प्रेमियोंकी कुछ विलक्षण—अनोखी रीति है। वे कहते हैं कि इनमेंसे यदि एक मिले तो हम वियोग चाहते हैं, संयोग नहीं चाहते। भाई, क्यों नहीं चाहते? बड़ी विलक्षण बात है। तो कहते हैं कि वियोगमें संयोगका अभाव नहीं है; यद्यपि वियोगमें बाहरसे दर्शन नहीं है, बाहरी मिलन नहीं है, तथापि अभ्यन्तरमें, अंदरमें मधुर मिलन हो रहा है। मिलनका अभाव तो

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

है ही नहीं। और असली मिलन होता भी है मनका; हमारे सामने कोई वस्तु रहे भी और हमारी खुली आँखें भी हैं, पर मनकी वृत्ति उस आँखके साथ नहीं है तो सामनेवाली वस्तु आँखोंके सामने रहनेपर भी दीखेगी नहीं। योग-साधनमें तो ऐसा एक स्तर भी होता है कि जहाँपर, कहते हैं कि आँखें खुली हैं, पर कुछ दीखता नहीं है। यह क्यों होता है? इसलिये कि आँखोंमें जो देखनेवाला है, जो देखनेकी वृत्ति है, वह नहीं रहती। अतः आँख खुली रहनेपर भी नहीं दिखायी पड़ता। इसी प्रकारसे वियोगमें नित्य संयोग रहता है, प्रियतम भगवान् सर्वथा मिले रहते हैं और वहाँ निर्बाध लीला चलती है। यों बाह्य वियोगमें आभ्यन्तरिक मिलन तो है ही, उसमें एक विलक्षणता भी है। वियोगके संयोगमें और संयोगके संयोगमें क्या विलक्षणता है? संयोगका मिलन बाहरका मिलन है। उसमें समय, स्थान, लोकमर्यादा आदिके बन्धन हैं। यह बिल्कुल स्वाभाविक बात है, सब समझ सकते हैं। बोले—भाई! आज आपसे मिलनेका समय हमने निश्चित किया है, दिनमें तीन बजे। उसके बाद दूसरा काम करना है, फिर तीसरा काम करना है। और अमुक स्थानपर मिलना है। इस प्रकार यह मिलन स्थान-सापेक्ष है, यह मिलन समय-सापेक्ष है। फिर वह बाहरका मिलन कैसा है? जैसे राजदरबारमें राजपुत्र भी जाकर दरबारके नियमानुसार राजासे मिलता है, वह सीधा जाकर गोदमें नहीं बैठता। सबके अलग-अलग स्थान निश्चित रहते और तदनुसार ही आसन लगे होते हैं। राजदरबारमें एक मर्यादा है, तदनुसार ही अलग-अलग आसन है। यह नहीं कि महलमें जैसे राजकुमार पिताकी छातीपर बैठकर उनकी दाढ़ी नोचने लगे, वैसे ही दरबारमें भी करे। अलग-अलग मर्यादा होती है मिलनकी स्थानके अनुसार। अतः संयोगके मिलनमें स्थान निर्बाध नहीं, मिलनमें समय निर्बाध नहीं, मिलनमें व्यवहार निर्बाध नहीं। और वियोगके मिलनमें जो अंदर मिलन होता है, वह कितनी देर होता है? कोई देर-सबेरकी अपेक्षा नहीं। लगातार दिनभर होता रहे, कौन रोकता है? और कहाँ होता है? जहाँ भी वह अंदर प्रकट हो जाय, वहीं होता है—जंगलमें, वनमें, घरमें, बाहर, बाजारमें—कहींपर भी। वह स्थानकी अपेक्षा नहीं रखता कि अमुक स्थानमें मिलन होगा। फिर मिलनमें व्यवहार कैसा होगा? वहाँ न राजदरबार है न महल है। जैसा मनमें आये, वैसा ही निर्बाध स्वच्छन्द व्यवहार। इस प्रकार व्यवहारका स्वातन्त्र्य, समयका स्वातन्त्र्य और स्थान-का स्वातन्त्र्य जैसा अन्तरात्मासे अभ्यन्तर मिलनमें है वैसा बाह्य मिलनमें नहीं है। अवश्य ही अन्तरात्माके मिलनमें, अभ्यन्तरके मिलनमें यदि वास्तविक मिलन न होता, तब तो यह वियोग बहुत बुरी चीज थी; क्योंकि भगवान्‌का, प्रियतमका वियोग तो सदा जलानेवाला ही है। पर यह प्रियतम श्रीभगवान्‌का वियोग है, संसारी वस्तुका नहीं है; इसलिये यह वियोग विलक्षण—परम सुखमय होता है। संसारकी किसी प्रिय वस्तुका वियोग हो जाता है, तब वह बार-बार याद आती है, पर मिलती नहीं। इससे वह उसकी स्मृति भी दुःखदायिनी होती है। हमारे एक मित्र हैं, बड़े अच्छे पुरुष हैं, बड़े विचारशील हैं, बड़े विद्वान् हैं, बड़े देशभक्त हैं, बड़े धार्मिक हैं—सब गुण हैं उनमें। उनके सुयोग्य पुत्रका कुछ वर्षों पूर्व देहावसान हो गया था। अतः वे जब-जब मिलते हैं, तब-तब कहते हैं, 'भाईजी! मैं उसको भुला नहीं सकता।' विचारशील हैं, वे समझते हैं कि जिस पुत्रका देहान्त हो गया, वह मिलेगा नहीं। वे दूसरोंको उपदेश कर सकते हैं, करते हैं; पर जब-जब एकान्तमें मिलते हैं, तब वही दशा देखी जाती है। वह वियोग क्यों दुःखदायी है? इसीलिये कि उसमें स्मृति तो है, पर स्मृतिमें मिलन नहीं है। मिलनकी सम्भावना ही नहीं है। भगवान् तो स्मृतिमें स्वयं प्रकट

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

होकर सुखदान करने लगते हैं। पर जगत्की प्रत्येक वस्तुका वियोग केवल दुःखदायी ही होता है; क्योंकि उसमें मिलन है ही नहीं। प्रियतम भगवान्की बात इसीसे विलक्षण है। उसमें जहाँ बाहरका अमिलन हुआ, वहीं भीतरका मिलन प्रारम्भ हो गया। जरा-सी देरका भी वियोग प्रेमीको सहन होता नहीं—वियोग रहता भी नहीं। वियोगकी जो असहिष्णुता है, वियोगका जो महान् संताप है, वह तुरंत प्रियतमकी स्मृतिको मनमें उदित कर देता है बड़े विलक्षण रूपसे और वह स्मृति प्रियतमकी सुखस्वरूपा केवल स्मृति होकर नहीं रहती, वह प्रियतम भगवान्के साक्षात् मिलनका अनुभव कराती है। अतः जिस वियोगमें ऐसे मिलनका अनुभव हो, जिसमें समयकी, स्थानकी और मिलनके व्यवहारकी सर्वथा स्वतन्त्रता हो, वह अच्छा या वह परतन्त्र स्थान, परतन्त्र समय और परतन्त्र व्यवहारवाला थोड़े कालका मिलन अच्छा ? इन दोनोंको देखकर ही प्रेमी कहता है कि संयोग-वियोग दोनोंमेंसे किसी एककी बात आप पूछें तो हम कहेंगे कि 'हमें वियोग दीजिये, संयोग नहीं।' वियोगमें मिलनका अभाव नहीं है और संयोगमें वियोगकी सम्भावना है। इसलिये उसमें वियोगका दुःख भी रहता है—भावी वियोगका दुःख होता है कि कहीं मिली हुई चीज चली न जाय। अतः इस रसकी साधनामें प्रारम्भसे ही, जहाँ वियोग है—जहाँ मिलन नहीं हुआ है, वहाँ पूर्वराग प्राप्त होता है और उस पूर्वरागके कारणसे प्रियतमकी अपने प्रेष्ठ भगवान्की जो नित्य मधुर स्मृति रहती है, वह स्मृति सुखस्वरूपा होनेके कारण मार्गका प्रारम्भ होते ही माधुर्यका आस्वादन आने लगता है। इसीलिये यह रसका मार्ग—सर्वथा मधुर मार्ग है, मधुर मार्ग।

दूसरी बात है—इस वियोगमें, इस मधुर मार्गपर चलनेमें जो आराध्य प्रियतम भगवान् हैं, एकमात्र उन्हीं प्रियतमकी अनन्य आकाङ्क्षा रहती है, दूसरी आकाङ्क्षा रहती ही नहीं। भगवान्को छोड़कर, जगत्का स्वरूप तमोमय है, अन्धकारमय है और भगवान् हैं प्रकाशमय। उनमें प्रकाश-ही-प्रकाश है। मनमें भगवान्को प्राप्त करनेकी जो वृत्ति उत्पन्न होती है, वह वृत्ति सात्त्विक होती है। सात्त्विक वृत्ति प्रकाशरूपा होती है। भगवान् तो परम प्रकाशरूप हैं ही, इसलिये इस रसकी साधनामें निरन्तर और निरन्तर एकमात्र परम प्रकाशरूप भगवान् सामने रहते हैं। इसीलिये इसका नाम है—'उज्ज्वल रस'। मधुर रस और उज्ज्वल रस एक ही चीज हैं। 'काम अन्ध तम, प्रेम निर्मल भास्कर'। इसमें कामनालेश न होनेके कारण कहींपर भी अन्धकारके लिये कोई कल्पना ही नहीं है, दुःखके लिये कोई कल्पना ही नहीं है। इस रसकी साधनामें आरम्भसे ही भगवान्का स्वरूप, भगवान्का शब्द, भगवान्का स्पर्श, भगवान्का गन्ध और भगवान्का रस—ये सब साथ रहते हैं। जहाँ शुरूसे भगवद्रस साथ हो, वही रसकी साधना है। यह परम प्रियतम भगवान्की साधना है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पाँचों भोगरूप विषय जहाँ इन्द्रिय-चरितार्थताके लिये हैं, जहाँ ये प्राकृतिक विषय हैं, वहाँ ये बड़े गंदे, सर्वथा हेय और त्याज्य हैं तथा जहाँ इनको लेकर भगवान्के श्रीविग्रहका अप्रतिम सौन्दर्य नित्य नूतन रूपमें बढ़ता रहता है और जहाँ ये भगवान्की सुषमा-सामग्रीके रूपमें हैं, वहाँ ये रसस्वरूप हैं, वहाँ ये पवित्र हैं, परम पावन हैं। केवल पवित्र ही नहीं हैं, पवित्र करनेवाले हैं। इस साधनामें कहीं भगवान्की सुरीली मुरली-ध्वनि सुनायी पड़ती है, कहीं भगवान्के इस स्वरूपकी मनोहारिणी झाँकी होती है, कहीं भगवान्का मधुर प्रसाद प्राप्त होता है, कहीं भगवान्के चरणोंका कल्याण-सुखमय स्पर्श होता है और कहीं भगवान्का दिव्य अङ्ग-सुगन्ध प्राप्त होता है। इसलिये ये जितने भी मधुरतम पदार्थ हैं, जितने भी भगवान्के रसस्वरूप पदार्थ हैं—

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

ये आरम्भसे ही साधनाके अङ्गरूपमें साथ रहते हैं; क्योंकि इन्हींको साथ लेकर साधक रसमार्गपर अग्रसर होता है, इनका त्याग नहीं करता। जहाँ ज्ञानका साधक वैराग्यकी भावनासे विषयोंका त्याग करता हुआ, जगत्को देख-देखकर उससे घबराता हुआ, उसको छोड़ता हुआ, उसे बलात् हटाता हुआ आगे बढ़ता है (और वह सर्वथा उचित तथा युक्तियुक्त ही है), वहाँ इस रस—प्रेमका साधक इनको हटाता नहीं, दूर नहीं करता, मारता नहीं, वह तो बड़े चावसे इन सबको भगवान्की सुखसामग्री मानकर साथ लेता चलता है। वह भगवान्के शब्दको, भगवान्के रसको, भगवान्के रूपको, भगवान्की अङ्ग-सुगन्धको, भगवान्के संस्पर्शको सदा साथ रखता है; क्योंकि यही स्मरण करता है न वह। यही उसकी साधना है और इस प्रकारसे वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन विषयोंको भगवान्के सौन्दर्यका पोषक देखकर ही इनका तथा भगवान्का सतत स्मरण करता है। वह विषय-जगत्का और उन विषयोंके त्यागका स्मरण नहीं करता। वह इनके भगवान्के द्वारा ग्रहण किये जानेका स्मरण करता है। इसमें यह बड़ा अन्तर है। जगत्को दुःखमय जानकर विरक्त होना, उसे छोड़ना—यह दुःखका स्मरण कराता है, भयका स्मरण कराता है। इसमें रहेंगे तो बड़ा भय होगा, बड़ी दुर्दशा होगी, बड़ा विषाद-शोक प्राप्त होगा, बड़ी हानि होगी, यह बड़ा ही दुःखद है, बड़ा भयानक है—इस प्रकारकी धारणा होती है और उस साधनामें यह आवश्यक और उचित भी है। उस साधनाका यह एक स्वरूप है। विषयोंमें वैराग्य होना ही चाहिये। परंतु यह रागकी साधना वैराग्यकी साधना नहीं है। इसीलिये इसका नाम रागात्मिका, रागानुगा या प्रेमाभक्ति है। इस रागकी साधनामें जगत्की, जगत्के दुःखोंकी, उनके त्यागकी स्मृति करनेकी आवश्यकता नहीं है। एकमात्र भगवान्की स्मृतिमें जगत्की आत्यन्तिक विस्मृति हो जाती है। वह केवल भगवान्की स्मृतिको साथ रखकर चलता है। उसे निरन्तर भगवान्के इन पाँचों दिव्य विषयोंका अनुभव होता रहता है। कभी वह भगवान्का मधुर-मनोहर स्वर सुनता है, भगवान् कैसे मीठे बोलते हैं, नन्दबाबासे बोल रहे हैं, यशोदा मैयासे मचल रहे हैं, कौशल्या मैयासे हँस-हँसकर बोल रहे हैं, कितने मीठे हैं। इनके शब्दोंमें कैसा माधुर्य है, ये स्वर कितने—कितने आकर्षक हैं। बेचारे कवियोंने स्वर-माधुरी, रूप-माधुरी, गति-माधुरी, वर्ण-माधुरी आदिमें भगवान्के अङ्गोंकी पशु-पक्षियोंसे उपमा दी। पर वास्तवमें भगवान्का सौन्दर्य कभी पशुओं-पक्षियोंकी तुलनामें थोड़े ही आता है। वह तो सर्वविलक्षण है। रसमार्गके साधक पहले भावनासे अपने इच्छानुसार मनमाने रूपमें उनकी धारणा करते हैं, यों भगवान् पहले उनकी भावनामें आते हैं। फिर भगवान् उनमें उस भोगके स्थानमें अपने सच्चे शब्दको, सच्चे रसको, सच्चे स्पर्शको, सच्चे रूपको और सच्चे गन्धको प्रकट कर देते हैं। तात्पर्य यह कि इस रसका साधक चलता है इन्हींको लेकर, इनमें रागको लेकर। भगवान्में रागको लेकर चलना और जगत्में विरागको लेकर चलना—ये साधनके दो विभिन्न स्वरूप होते हैं। दोनों ही अच्छे हैं, दोनोंका फल भी तत्त्वकी दृष्टिसे एक ही तत्त्वकी प्राप्ति है। फलमें तात्त्विक भेद नहीं है, पर भेद इस मानेमें है कि इस रसमें कहीं दुःखकी गन्ध नहीं है, दुःखका भय नहीं है, दुःखजनित विषाद नहीं है और कहीं किसी वस्तुके त्यागकी आवश्यकता नहीं है। यहाँ केवल सुख-ही-सुख है, केवल मधुरता-ही-मधुरता है, केवल आनन्द-ही-आनन्द है। सारी वस्तुएँ भगवान्की पूजाकी सामग्री होनेके कारण किसीके त्यागकी आवश्यकता नहीं है। इस रसका साधक प्रारम्भसे ही—पहलेसे ही भगवान्के

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

रागको साथ लेकर चलता है। पूर्वरागके जो लक्षण हैं, उससे यह विदित हो जाता है कि कहीं तो भगवान्‌की मुरली-ध्वनि सुनकर वह मोहित हुआ, तो उस मुरली-ध्वनिका ध्यान होने लगा। कहीं किसीके द्वारा भगवान्‌के गुणोंकी चर्चा सुनी तो उससे उन गुणोंका चिन्तन होने लगा। कहीं किसी सखीके द्वारा भगवान्‌की मधुर लीलाओंका वर्णन सुना, किसी दूत या दूतीके द्वारा, किसी भगवद्भक्तके द्वारा उनकी प्रेम-पराधीनताका वर्णन सुना तो उन लीलाओंका स्मरण होने लगा। कहीं भगवान्‌के अङ्ग-सुगन्धकी चर्चा सुनी—कहीं जा रहे थे, दूरसे सुगन्ध आ गयी, अब वह सुगन्ध तो नहीं रही, पर उसका स्मरण होने लगा। कहीं स्वप्नमें भगवान्‌के दर्शन हो गये तो वहाँ भगवद्रूपके स्वप्नके दर्शनका स्मरण करता हुआ साधनमें लग गया। अभिप्राय यह कि उसकी साधनामें प्रत्येक भगवान्‌के विषयमें ही राग रहता है। वह सतत भगवद्विषयोंका अनुरागी होकर चलता है और जितने भी भगवद्विषय हैं, सब-के-सब परम मधुर हैं, सब परम उज्ज्वल हैं, सब परम सुखस्वरूप हैं, सब परम आनन्दमय हैं। अतः रागकी साधनामें आनन्द-ही-आनन्द है।

अवश्य ही इसमें एक डर है। वह डर है कि कहीं विषयोंमें—भोगोंमें वह भगवान्‌की चीजको न मान ले। भोगोंके त्यागकी तो आवश्यकता नहीं होती। भोग कहीं पड़े रहते हैं या वे भगवान्‌के भोग्य बन जाते हैं। उसको तो भगवान्‌की आवश्यकता है। वह भगवान्‌को साथ लेकर चलता है; पर कहीं भोगोंमें आसक्ति बनी रहे और भगवान्‌के नामपर कहीं उसका भोगोंमें प्रवेश हो जाय और भोग उसके जीवनपर छा जायँ तो बड़ी भारी दुर्दशा हो सकती है। इसलिये रसकी साधना जहाँ बड़ी मधुर, बड़ी आनन्ददायिनी है, वहाँ उसमें यह एक बड़ा खतरा है। किंतु वैराग्यकी साधनामें, जहाँ पहलेसे ही विवेकके द्वारा भोग-वैराग्य प्राप्त है, यह खतरा नहीं है। पर उसमें खतरा नहीं है तो वह आनन्द भी नहीं है। हमारे साथ-साथ भगवान् चलें और भगवान्‌के साथ-साथ हम चलें। हम भगवान्‌को देखते चलें, सुनते चलें, सूँघते चलें, चलते चलें और उनको छूते चलें। कितना बड़ा आनन्द है। चाहे जब भगवान्‌को चख लें, उनका रसास्वादन कर लें, भगवान्‌का स्पर्श प्राप्त कर लें, भगवान्‌के स्वर सुन लें, भगवान्‌की हम सुगन्धको सूँघें, भगवान्‌के सुन्दर मधुर रूपको देखें। कितनी बढ़िया चीज है। इन चीजोंका रस लेते हुए चलें। रसके साधककी यह विशेषता है कि वह इन चीजोंका रस लेता हुआ चलता है और यदि ये सब चीजें भगवान्‌को लेकर हैं तो वहाँ भोग आते ही नहीं। क्यों नहीं आते? इसीलिये कि वहाँ वे रह नहीं सकते—वैसे ही, जैसे सूर्यके सामने अन्धकार नहीं टिक सकता। वास्तवमें यह पवित्र रससाधन ही ऐसा है, जिसमें इन्द्रियदमन तथा विषयत्यागकी आवश्यकता नहीं होती, वरं समस्त इन्द्रियाँ और सम्पूर्ण विषय सच्चिदानन्दमय भगवान्‌का नित्य संस्पर्श प्राप्त करके धन्य हो जाते हैं। पर वस्तुतः मूलमें ही भूल रहती है। प्रारम्भमें ही मामला गड़बड़ रहता है। भगवान्‌के रसका नाम लेते हैं और होती है भोगलिप्सा। शुरुआतमें—आरम्भमें जब गलती रहती है, तब उसका फल भी वैसा ही होगा। किंतु वास्तवमें जो रसके मार्गपर चलनेवाले हैं, उनके पास भोग आ नहीं सकते। वे तो सदा भगवान्‌के रागमें संलग्न रहते हैं—वहाँ ये भगवद्विषयक रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श होते हैं। इनके स्थानपर संसारके रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श नहीं आ सकते। इनका प्रवेश उसमें वैसे ही नहीं होता, जैसे बर्फमें गरमी नहीं आती, जैसे अमृतके साथ विष नहीं मिलता। यदि कहीं विष आकर अमृतमें मिले तो अमृत उस विषको खा जायगा, विष भी अमृत बन जायगा। अमृतमें जो शक्ति है, वह शक्ति विषमें नहीं है। अमृत विषमें मिलकर विष

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

नहीं होगा, किंतु विषको अमृत बना लेगा । इसी प्रकारसे संसारके भोग भी भगवद्-रसको कभी दूषित नहीं बना सकते। ये स्वयं वहाँ जाकर पवित्र बन जाते हैं। जो भी संसारका भोग भगवान्के साथ समर्पित हो जाता है, वह पवित्र बन जाता है । रूप देखना इन्द्रियतृप्तिकर भोगके लिये और रूप देखना भगवान्के पवित्र सौन्दर्य-सुखका आस्वादन करनेके लिये—दोनोंमें बड़ा अन्तर होता है । अतः भगवान्के साथ सम्बन्धित होनेपर जितने भी दोष हैं,—भले ही उनके नाम काम, क्रोध, लोभ ही रहें,—वे पवित्र प्रेमके ही अङ्ग बन जाते हैं । कहा गया है—'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत्प्रथाम् ।' गोपाङ्गनाओंके 'प्रेम' को 'काम' कहते हैं । पर वह हम लोगोंवाला सद्वृत्तिनाशक दूषित काम थोड़े ही है। 'काम' शब्दसे चिढ़ नहीं होनी चाहिये । **'सोऽकामयत्'** भगवान्ने कामना की,—**'एकोऽहं बहु स्याम्'**—मैं एकसे ही बहुत हो जाऊँ ।' और हो गये ।

'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।'

भगवान्ने अर्जुनसे कहा—

'अर्जुन ! प्राणियोंमें धर्मसे अविरुद्ध काम मैं हूँ, धर्मसे अविरुद्ध काम मेरा स्वरूप है ।' अतः 'काम' शब्दसे डरनेकी जरूरत नहीं । काम यदि भगवद्रस-काम हो,—भगवान्के गुणानुवादकी कामना खूब जगे, भगवान्के मिलनकी कामना खूब बढ़े, भगवान्के गुण-श्रवणकी कामना कभी मिटे ही नहीं । ये सब भी काम ही हैं, पर ये काम वह दूषित काम नहीं है । भगवत्काम 'प्रेम' है और विषय-प्रेम 'काम' है । वैसे विषय-प्रेम भी काम है और भगवत्प्रेम भी काम है; पर दोनोंमें बड़ा अन्तर है । भगवान्के रसके मार्गमें ये भोग बाधक नहीं हो सकते । ये बाधक वहीं होते हैं, जहाँ मूलमें भूल होती है । इस रसके मार्गमें पहली चीज है भगवान्में पूर्वराग होना—केवल भगवान्में । जीवनमें ऐसा मौका लगता रहे, जिसमें बाहरी ज्ञान-विज्ञानकी चर्चा न हो, चर्चा हो केवल और केवल अपने श्यामसुन्दरकी, अपने भगवान्के सौन्दर्य-माधुर्यकी—उनके रसकी, उनके स्वरूपकी, उनके रूप-तत्त्वकी । किसीकी बात सुनें, किसीकी बात कहें, किसीकी बात सोचें तो क्या होता है ? उसमें पूर्वराग पैदा होता है । वह यदि भोगोंमें हो गया तो आसक्ति, कामना, क्रोधके क्रमसे सर्वनाशका कारण होगा और वह यदि भगवत्स्वरूपमें हो गया तो वह क्रमशः प्रेमके मार्गमें आगे बढ़ता हुआ महाभावके उच्चस्तरपर ले जायगा । भगवत्स्वरूपमें रागका मार्ग आगे बढ़ेगा सदा निरापदरूपमें । इसमें बाधा नहीं आयेगी । क्यों नहीं बाधा आयेगी ? यह एक बड़ी विलक्षण बात है । भगवान्को किसी वस्तुकी चाह नहीं है, उनको किसी वस्तुकी क्षुधा-पिपासा नहीं है; परंतु यह भगवान्का स्वभाव है कि वे प्रेमरसके भूखे-प्यासे बने रहते हैं । भगवान्को प्रेमकी क्षुधा-पिपासा लगी रहती है, जब कि प्रेमस्वरूप भगवान् ही हैं । जहाँपर भगवान्को विशुद्ध प्रेम-रस मिलता है, वहाँ भगवान् उस रसका आस्वादन करनेके लिये मनका निर्माण कर लेते हैं । महारास-रात्रिमें भगवान्ने मनका निर्माण कर लिया रमणके लिये—**'रन्तुं मनश्चक्रे ।'** वह रमण क्या भोग-रमण था या क्या वह योगियोंका आत्मरमण था ? दोनों ही नहीं, दोनोंकी ही भगवान्को आवश्यकता नहीं । दोनोंसे परे भगवान् । यह तो भगवान्का स्वरूप-वितरण था, भगवान्का रसास्वादन था, रस-वितरण था । रस-वितरणमें सुखमय भगवान्को सुख मिलता है । यह बड़ी विलक्षण बात है । जो नित्य निष्काम हैं, उनमें कामना

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

उत्पन्न हो जाती है इस प्रेमसे। तो जहाँ प्रेमीजनको भगवान् देखते हैं, वहाँ वे उससे मिलनेको स्वयं आतुर हो जाते हैं और जहाँ भगवान् मिलनेको आतुर हुए, वहीं उसके मार्गके सारे विघ्न—सारी बाधाएँ अपने-आप हट जाती हैं। यह बड़े सुभीतेकी बात है। रसके मार्गमें, यदि यह ठीक रसके मार्गमें चल रहा है तो, वे रसिकशेखर भगवान् स्वयं रस-पानके लिये—रसास्वादनके लिये उसको शीघ्र-से-शीघ्र अपनी संनिधिमें बुला लेंगे। मार्गकी दूरीको, मार्गके व्यवधानोंको, मार्गके विघ्नोंको वे स्वयं सहज ही हटा देंगे—अपने-आप; क्योंकि वहाँपर वह भक्त ही नहीं, अपितु स्वयं भगवान् भी भक्तकी भाँति इच्छुक हो जाते हैं रस—मधुर दिव्य रसका पान करनेके लिये। भगवान्में इच्छा पैदा नहीं होती, वे स्वयं ही इच्छा बन जाते हैं। भगवान् सर्वसमर्थ हैं। वे स्वयं इच्छारूप हो जाते हैं। इसलिये यह रसका मार्ग बड़ा विलक्षण है। यह परम पवित्र है—इसलिये कि इसमें प्रारम्भसे ही भोगोंकी आसक्तिका अभाव रहता है। तभी तो भगवान्में राग होता है। जिसमें भोगासक्तिका अभाव है, जहाँ भोगासक्ति नहीं, वहाँ दुःख नहीं; जहाँ भोगासक्ति नहीं, वहाँ विषाद नहीं और जहाँ भोगासक्ति नहीं, वहाँ भय नहीं। जगत्में तो दो ही चीजें हैं। हजारों-हजारों 'भय'के स्थान हैं, हजारों-हजारों 'शोक' के स्थान हैं—**'भयस्थानसहस्राणि शोकस्थानशतानि च।'** जो प्रिय वस्तु, जो ममताकी वस्तु हमें प्राप्त है, वह कहीं चली न जाय—यह 'भय' हम सबको लगा होता है; और वह वस्तु चली गयी तो फिर रोना है—शोक है, विषाद है। ये भय और शोक हैं और इन्हींमें सारा संसार डूबा हुआ है। कौन संसार? जो विषयासक्त है—भोगासक्त है। भोगासक्तिके साथ भय, विषाद, शोक रहेंगे ही। इनसे वह कभी मुक्त नहीं हो सकता। किंतु जहाँ भगवान्का राग जगता है, वहाँ भोगासक्ति नहीं होती और वह भगवदनुराग बढ़ते-बढ़ते अत्यन्त विशाल भावका—प्रेमका समुद्र बन जाता है। फिर भी उसका बढ़ना बंद नहीं होता; क्योंकि यह उसका सहज स्वभाव है। उस नित्यवर्धनशील महान् रस-सागरमें भक्त-भगवान्—प्रेमी-प्रेमास्पद—दोनों लीला करते हैं। ये लीलामें नित्य दो होकर नित्य एक हैं और नित्य एक होकर नित्य दो हैं। भगवान्का यह विलक्षण रस-साम्राज्य है। वस्तुतः यह रस-साम्राज्य भगवान्से भिन्न नहीं है तथापि सर्वथा भिन्न है। इस रस-साम्राज्यमें जो रसिक नहीं हैं, उनका प्रवेश नहीं होता—वे चाहे महाज्ञानी हों। याज्ञवल्क्य रसके सागरमें नहीं आ सकते, नारद आ सकते हैं, शुकदेव आ सकते हैं। शुकदेव परम ज्ञानी होते हुए भी इस रस-सागरमें डुबकी लगाया करते हैं। इसलिये यह रस-सागर बड़ा अनुपम, अतुल, विलक्षण है। इसमें प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद वस्तुतः एक भगवान् ही होते हैं, पर सदा ही तीन बनकर रसास्वादन करते-कराते रहते हैं। यह अनादिकालीन है, अनन्तकालीन है, इसमें कभी विराम नहीं, कभी इसमें रुकावट नहीं, कभी इसका बंद होना नहीं, कभी इसका ह्रास नहीं, कभी इसका विनाश नहीं। यह नित्य नव रूपमें प्रतिक्षण बढ़ता हुआ वर्तमान रहता है।

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

अखण्ड आनन्दकी उपलब्धि

(लेखक—डा० श्रीनरेन्द्रकुमारजी सेठी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, संचालक, भारतकेन्द्र, न्यूयार्क, १९६६)

आनन्द जीवनका सनातन तत्त्व है। यह एक आत्मिक सौन्दर्य है, जिसके माध्यमसे अखण्ड ब्रह्माण्डकी चरम शक्तिसे हमारा पुनीत सम्बन्ध स्थापित होता है। यह एक असीम मानस उपलब्धि है, जो हमें हमारे भौतिक धरातलसे उठाकर ऊर्ध्वगामी सत्यकी ओर उन्मुख करती है। निस्संदेह आनन्द एक निराली आध्यात्मिक व्यञ्जना है, जिसके बिना हम 'पूर्णत्व' तक पहुँचनेमें असमर्थ हैं।

आनन्द एक आस्था है। ब्रह्मके सार्वभौम अस्तित्वका एक अनुपमेय उदाहरण है। प्रकृतिके नैसर्गिक सौन्दर्यका एक मनोरम प्रतीक है। आत्माके कल्याणकारी स्वरूपका एक चिरंतन बिम्ब है।

आनन्द एक विश्वास है। परम 'शिव' की सार्वकालिक व्यञ्जनाका सजीव आग्रह है। आन्तरिक 'सत्यम्' एवं बाह्य 'सुन्दरम्' का जाग्रत् अन्तर्मिलन है।

आनन्द एक अनुभूति है। इसमें लोक-परलोकका द्वन्द्व समीभूत होकर एक शाश्वत तत्त्वमें विलीन हो जाता है। यहाँ एकत्व है—सम्मिलन है—समाहार है।

हमारी सांस्कृतिक परम्परा भी आनन्दको एक शाश्वत जीवनोद्देश्य स्वीकार करती है। भारतीय अध्यात्म एवं दर्शनमें 'आनन्द-तत्त्व' की महत्त्वपूर्ण व्याख्या की गयी है। आनन्द-रसको आत्माका चरम उत्कर्षमय स्वरूप माना गया है।

आनन्दकी भौतिक व्यञ्जना करनेवाले पाश्चात्त्य दार्शनिकोंका मानसिक परिवेश अत्यन्त सीमित है। जो सुख केवल शारीरिक या ऐन्द्रियिक धरातलपर मिलता है, वह न स्थायी है और न नैसर्गिक। उसमें केवल क्षणिक उच्छ्वास है, जो अन्तमें माया तथा परिग्रहके वशमें आकर दुःखमें परिवर्तित हो जाता है। ऐन्द्रियिक स्तरसे परे, मानसिक एवं आत्मिक स्तरपर जो आनन्द प्राप्त होता है, उसमें स्थायित्व है और नैसर्गिक शक्ति है, जिसे न माया परास्त कर सकती है और न परिग्रह ही। वास्तवमें यही सच्ची जीवन-शक्ति है।

आनन्दतत्त्व और सौन्दर्यमें अपूर्व सम्मिलन है। यह सौन्दर्य विश्वमें सर्वत्र व्याप्त है; परंतु इसे ऐन्द्रियिक स्तरपर न तो देखा जा सकता है और न इसकी अनुभूति ही सम्भव है। इसे देखनेके लिये एक सुनियमित (disciplined) आत्म-चक्षुकी आवश्यकता है। यह चक्षु उसे ही प्राप्त होता है, जिसको आनन्दकी सम्पूर्ण व्यञ्जना मिल चुकी है।

यह आनन्द जीवनका उत्कर्ष है, जीवनका त्याग नहीं। इसमें जिजीविषा है, ग्लानि नहीं। इसमें उत्साह और औदार्य हैं, पराजय या वैराग्य नहीं। इसमें भुलावा या छलना नहीं है, आस्था और एकाग्र निष्ठा हैं। अतः रस—आनन्दकी उपलब्धिके लिये पलायन नहीं, उत्सर्गकी आवश्यकता है। गम्भीर मनन और चिन्तनके पश्चात् जब हमारी दृष्टि भौतिक धरातलसे ऊपर उठकर सर्वत्र उन्मुख होती है और जब हमारा अन्तश्चक्षु इतना विकसित हो जाता है कि प्रकृतिमें लीन होनेवाले ब्रह्मतत्त्वके अस्तित्वका हमें आभास होने लगता है, तब इस परम पुनीत आनन्दतत्त्वकी ओर हमारा लक्ष्य जा सकता है, अन्यथा नहीं।

इस अखण्ड आनन्दमें ही मानव-जीवनकी पूर्ण सार्थकता है।

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती

'कल्याण'-पाठकोंके सुपरिचित वयोवृद्ध ज्ञानवृद्ध महात्मा स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी महाराज गत ६ अप्रैलको प्रातःकाल सिहोर स्थानमें नश्वर भौतिक देहका परित्याग करके ब्रह्मलीन हो गये। पूज्यपाद स्वामीजी-का जन्म आचार-विचार और पवित्रताके सिद्धान्तोंका दृढ़तापूर्वक पालन करनेवाली ब्राह्मणजातिमें हुआ था। वे ब्रह्मनिष्ठ महात्मा थे। उनके लेख बहुत ही विचारपूर्ण तथा शास्त्रसम्मत होते थे। 'कल्याण' के पाठकोंने महात्माजीके लेखोंसे बहुत लाभ उठाया है, हमलोगोंपर उनका बड़ा ही स्नेह था। मैं 'कल्याण' परिवार, 'कल्याण' के सहस्रों-लाखों पाठक-पाठिकागणकी तथा अपनी ओरसे उनको भक्तिपूर्ण हृदयसे श्रद्धाञ्जलि अर्पण करता हूँ। 'कल्याण' के पाठकोंसे मेरा निवेदन है कि वे समय-समयपर 'कल्याण'में प्रकाशित उनके लेखोंको सुविधानुसार पुनः पढ़कर एवं तदनुसार जीवन बनाकर लाभ उठायें।

महात्माजीके सम्बन्धमें उनके सेवक श्रीनटवरलालजी म० बोराने कुछ संस्मरण लिखकर भेजे हैं, उनमेंसे कुछ अंश नीचे दिया जाता है।

—सम्पादक

अन्तेवासी श्रीनटवरलालजी लिखते हैं—

परम पूज्य स्वामीजीके सिहोरमें निवास करते समय, वैसे तो लगभग आठ वर्षोंसे मैं उनके सांनिध्यमें था और मुझसे बन सकने योग्य सेवा करनेका सुअवसर पूज्य स्वामीजी कृपा करके मुझे प्रदान किया करते थे। प्रसङ्ग प्राप्त होनेपर हरएक मौकेपर कहते थे कि शरीरकी सेवा मैंने एक ही व्यक्तिको दी है और एकको ही यह दी जा सकती है। पूज्य स्वामीजीकी सहजावस्थाके विषयमें या ब्रह्मभावके विषयमें तो शब्दोंमें क्या लिखा जा सकता है!

पू० स्वामीजीके शरीरमें अन्तिम ढाई वर्षोंके बीच एक ऐसा लक्षण प्रकट हुआ, जो उनकी परमोच्च आध्यात्मिक अवस्थाका प्रमाणस्वरूप तथा सूचक है।

इधर कुछ समयसे वे लघुशङ्का करनेके लिये उठ-बैठ नहीं सकते थे। इसलिये डिशमें मूत्रत्याग करते थे। आश्चर्यकी बात यह थी कि पेशाबमेंसे दुर्गन्ध आनेके बदले, डिशमें चार-छः घंटे पेशाब पड़े रहनेपर भी उसमेंसे चन्दनकी सुवास निकला करती थी। गत वर्ष एक विद्वान् संन्यासी काशीसे यहाँ आये थे। उन्होंने गौण उपनिषदों (Minor Upanishads)के विषयमें चर्चा करते हुए एक स्थलकी व्याख्या संस्कृतमें सुनायी और समझायी। उसमें लिखा था कि ज्ञान होनेके बाद जब निष्ठाकी चरमावस्था आती है और अमुक प्रकारकी परमोच्च अवस्था प्रकट होती है, तब मल-मूत्रसे चन्दनकी सुवास प्रकटित होती है। समागत पूज्य स्वामीजीने जब उपनिषद्के इस प्रमाणकी बात कही, तब सबको संतोष हो गया और तब कोई संशय नहीं रहा।

अन्तिम दिनोंमें पूज्य स्वामीजीकी मानसिक स्थितिमें किसी भी प्रकारका कोई अन्तर नहीं आया। केवल उनके मुँहसे यह उद्गार कई बार निकलता था कि अब शरीर छूट जाय तो अच्छा हो। उनका ता० ५ अप्रैलका कार्यक्रम सदाकी भाँति चल रहा था। उस दिन उनकी कमजोर तबीयतका समाचार जिनको मिला, वे उनके दर्शनके लिये राततक आते रहे। इससे विशेष शारीरिक श्रम तो पड़ा होगा, परंतु सबके साथ उन्होंने प्रसन्नता-पूर्वक बातें कीं।

ता० १८ जनवरी १९६७ के दिन पूज्य स्वामी-जीको मूर्छा आ गयी थी। उस दिनसे मैं (नटवरलाल) उनको शौच-स्नान आदि करानेके लिये उनके पास जहाँतक सम्भव था तैयार रहता और रातको पास ही सोता भी था। ५ तारीखको भी रातको रोजकी तरह उनके समीप ही बिस्तरपर सोया था। सबेरे ४ बजकर ३५ मिनटपर मैं उठा। पूज्य स्वामीजीके साथ थोड़ी बातचीत भी हुई। उस समय भी पू० स्वामीजी सदाकी तरह स्वस्थचित्तसे बातें करते रहे और मुझको शौचादिके निमित्त जानेके लिये कहा। रोजकी तरह मैं बाहर दन्तधावन-शौचादिके लिये गया। फिर पूज्य स्वामीजीके

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

लिये चाय लेकर मैंने कमरेमें प्रवेश किया तो देखा कि खाटपर पूज्य स्वामीजीका शरीर शान्त हो गया है।

इस प्रकार पूरी सावधानीसे और पूर्ण मानसिक स्वस्थतामें पूज्य स्वामीजीने शरीरत्याग किया। ऐसी मानसिक स्वस्थता अन्ततक रहनेका कारण कुण्डलिनीका प्रभाव था, ऐसा अनुमान होता है। भगवान्‌की असीम कृपाका इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है ?

अन्तमें पूज्य स्वामीजीने अहैतुकी कृपाकी महान् किरण बिखेरकर मेरे-जैसे सामान्य मानवको जिस प्रकार धन्य बना दिया, उसका उल्लेख करते समय इस महान् विभूतिके चरणोंमें हृदय बारंबार वन्दना करता है। जैसा मैंने ऊपर कहा है कि पूज्य श्रीने मुझे शौचादिके लिये जानेकी आज्ञा दी। जब मैं उनके चरणोंमें प्रणाम करके जाने लगा, तब पूज्य श्रीने, जो कभी किसीको स्पर्श नहीं करते थे, मेरे मस्तकको अपने दोनों हाथोंसे स्पर्श करके आशीर्वाद दिया—'जाओ, विजयी बनो।' उस समय तो कुछ समझमें न आया। परंतु दूसरे ही दिनसे मेरी आन्तरिक अवस्थामें कुछ और ही अद्भुत अनुभव होने लगा। आज विचार करनेपर यह प्रत्यक्ष ज्ञात होता है कि यह, पूज्य स्वामीजीकी मेरे ऊपर जो महान कृपा हुई, उसीका फल था। परम कृपालु परमात्मासे यह प्रार्थना करता रहता हूँ कि मेरी यह स्थिति निरन्तर बनी रहे।

पूज्य स्वामीजीने आज्ञा दी थी कि उनके शरीरका दाह-संस्कार तो किया जाय, पर षोडशी आदि कोई कर्म करनेकी जरूरत नहीं। उनके आज्ञानुसार उनके शरीरका अग्निदाह किया गया, पर पीछे कोई भी विधि नहीं की गयी।

सर्वत्र सबमें भगवान्

किसमें पाप-दोष देखूँ मैं ? किसमें अब देखूँ शैतान।
कैसे किसे पराया समझूँ, जब कि भरे सबमें भगवान॥
भू-जल-अनल-अनिल-नभ हैं, नक्षत्र सभी उनके ही नाम।
मनुज-दनुज, सुर-पितर, चराचर उनकी ही अभिव्यक्ति तमाम॥
कर्म-अकर्म-विकर्म, सत्-असत्—सब केवल उनके ही रूप।
वे ही प्रलय-सृष्टि-पालन, लीलामय लीलानिरत अनूप॥
नहीं मोह-मायाकी सत्ता, वे ही सब कुछ बनते आप।
देश-काल सब ही उनमें, वे नित्य सनातन अमित अमाप॥
मेरे लिये कभी, कुछ भी, अब रही न कहीं अन्य सत्ता।
हैं सर्वत्र एक मेरे वे श्याम, उन्हींकी भगवत्ता॥
एक बचा, मैं उनकी सेवा करने, करने नित्य प्रणाम।
सदा सर्वथा उनकी पूजा—एकमात्र मेरा यह काम॥
अपने प्रति संकल्प-कार्यसे मैं उनकी पूजा करता।
देख विचित्र रूप अगणित अति मैं नित नये मोद भरता॥
देख देख उनको, उनकी अपनी स्वरूपभूता लीला।
सच्चिन्मय आनन्द-सुधा-सरिता बहती वर्धनशीला॥

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

'क्लैब्यं मा स्म गमः'

(लेखक—डॉ० गणेश खरे, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, पी-एच्० डी०)

एक शताब्दीसे भी अधिक कालतक तपस्यामें तपी कुंदन-सी देह, चेहरेपर शालीनता, सौम्य और आत्मकान्तिसे प्रदीप्त, गरिमासे सम्पन्न एक ऋषिवर प्रवचन कर रहे थे। उनके नयनोंमें तैर रहे थे बदरीनाथकी हिमधवल शैल-शिखर, प्रोज्ज्वल आभा और स्निग्ध शीतलता; मन श्रद्धासे झुका, माथा नवा और हृदय आशीर्वादके लिये उत्सुक हो उठा। एक सजग कुतूहल, वयके आश्चर्यकी सीमा-सी, न जाने उस क्षण मेरे मानसमें कितनी लहरें उन्मथित हो उठीं। एक दीर्घकालीन तपस्याके पुण्य-फलसे साक्षात्कारके वे मात्र पंद्रह मिनिट आह्लाद और जीवनकी सार्थकताके प्रथम सोपान बनकर अडिग हो गये। एक सुन्दर-सा सपना देखा और आज उसकी स्मृतिमें सुख पा रहा हूँ।

उनकी बातें सर्वथा नयी नहीं थीं; ऐसी भी नहीं, जिन्हें सामान्य जनता न समझ सके। पर उनमें आत्म-चेतना और एकान्त साधनाका योग था; वे कर्मनिष्ठा, अभयता, निश्छलता और सीधे ही हृदयपर प्रभाव डालनेकी अपूर्व शक्तिसे युक्त थे। न्याय और नियमकी विवेचनाका प्रसङ्ग चल रहा था। वे कह रहे थे, न्याय और नियमके सम्मुख अपवाद नहीं होने चाहिये। वे तो सभी कालोंमें सब व्यक्तियोंके लिये समानरूपसे क्रियाशील होते हैं। न्यूनाधिकताकी भावना विषमताओं-को जन्म देती है, दुःख और विकारोंकी वृद्धि करके मनुष्यके जीवनको अशान्त कर देती है। मनुष्य अच्छे कार्योंकी ओर कठिनाईसे ध्यान लगा पाता है; किंतु बुरे कार्य उसे सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं और एक बारकी शिथिलता बार-बार व्यक्तिको विचलित करती रहती है। इसीका नाम है सांसारिक माया और मोह। इनसे निर्लिप्त रहना जीवनका धर्म है, शान्ति और संतोषका पथ है, जीवनकी साकार मुक्ति है। इसके लिये आवश्यकता यह है कि हम संयमित रहें, इन्द्रिय-निग्रही बनें।

महाभारतमें एक प्रकरण आता है, जहाँ दुःशासन-को बार-बार समझाया जाता है कि अर्जुन आदि तुम्हारे बन्धु हैं, तुम्हें उनके साथ शत्रुतापूर्ण व्यवहार नहीं करना चाहिये। उत्तरमें दुःशासन कहता है कि अर्जुनादि मेरे बन्धु हैं, आत्मीय हैं—यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ; किंतु मेरी अन्तरात्मा तो नहीं मानती। जब-जब मैं उन्हें देखता हूँ तो यही लगता है कि उनका गला घोंट दूँ। मानवकी यही प्रवृत्ति—हिंसा, स्वार्थ, घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, जलन—इसे चाहे जिस नामसे पुकारिये, उसकी शान्ति और संतोषमें बाधक है। इसीपर विजय प्राप्त करना उसका इष्ट कर्तव्य है। विवेक और संयमकी परीक्षा ऐसी ही परिस्थितियोंमें होती है।

सामान्यतः मनुष्य यदि किसी कार्यमें एक बार असफल हो जाता है तो फिर वह उससे निराश हो जाता है। कभी-कभी वह उद्योगहीन होकर उससे विमुख भी हो जाता है। यही निराशा, उद्योगहीनता और विमुखता मनुष्यके जीवनकी सबसे बड़ी दुर्बलता है। जीवनके अन्तिम साँसतक उसे हिम्मत और आशा नहीं छोड़नी चाहिये। आशा उसके जीवनकी सफलताका मर्म है, निराशा मृत्यु।

महात्माजीने अपने इसी कथनकी पुष्टिमें एक उदाहरण भी प्रस्तुत किया। कहने लगे—देखिये, चींटी कितना छोटा जीव है। इस अत्यल्प एवं तुच्छ प्राणीकी व्यवस्थित क्रियाशीलता एवं उद्योगपरता देखकर आश्चर्य-चकित होना पड़ता है। घनघोर जंगलोंमें भी इसके

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

दर्शन हो जायँगे; खेतों, खलियानों और मकानोंमें भी इसके दर्शन किये जा सकते हैं। सरायसे लेकर राजभवनों तथा जमीनके अंदरसे लेकर पचासों मंजिलोंके ऊपरी फर्शपर भी इसे आसानीसे देखा जा सकता है। हिमाच्छादित पहाड़ों, कन्दराओं और गुफाओंके बीच भी यह प्राणी चलता-फिरता दिखायी देता है। फिर उसकी सामाजिक भावना और राजकीय व्यवस्थाको देखकर तो दंग होना पड़ता है। है संसारका छोटा-सा उपेक्षित जीव, किंतु उसकी क्षमाशीलता एवं नियम-निष्ठता अनुकरणीय है। उसकी तुलनामें मनुष्यके पास किस चीजका अभाव है; किंतु फिर भी यह विडम्बना कि आज मनुष्यका अपने ही ऊपर अधिकार नहीं। शायद एक विवेकशील प्राणीका इससे बड़ा दुर्भाग्य और क्या हो सकता है ? वह स्वयं अपनी मौतको निमन्त्रण दे रहा है। वह स्वयं अपनी हत्या धीरे-धीरे करता रहता है। दुर्गुणोंके चक्करमें फँसकर वह करणीय और अकरणीयका भेद भूल, भोग-विलास और इन्द्रिय-सुखोंकी क्षणिक तृप्तिके पीछे पागल हो जाता है। अपने इन क्रिया-व्यवहारोंके द्वारा वह एक ऐसे अजीबो-गरीब प्राणीकी कोटिमें पहुँचनेकी चेष्टा करता है, जिसकी तुलना करनेके लिये इस संसारमें कदाचित् कोई भी पशु-पक्षी विद्यमान न मिले ! मनुष्य जानकर अनजान बनता है, जीवनसे खेल करता है, अपने हाथों अपने हाथ-पैर काटता है और फिर चीखता-चिल्लाता है। वह अपना भाग्य-विधायक बनकर भी स्वयं अपने जीवनका विध्वंसक बन जाता है।

थोड़ी देर रुककर महात्माजीने स्वयं एक प्रश्न किया—"तब मनुष्य क्या करे ? आखिर मन मन है, चञ्चल है; धीरे-धीरे अभ्याससे उसे अधिकारमें किया जा सकता है। भोगोंसे भागते-भागते ही लोग उससे भाग पाते हैं।' फिर स्वयं इन प्रश्नोंका उत्तर देने लगे—इन्द्रिय-निग्रहके सम्बन्धमें मनुष्य इस प्रकारकी और न जाने कितनी कमजोर बातें कहते-सुनते हैं। पर मेरी समझमें नहीं आता कि 'भागते-भागते' या 'धीरे-धीरे करते-करते' का क्या अर्थ होता है। यह तो एक बहुत लंबी झंझट है—धीरे-धीरे इन्द्रिय-निग्रह कीजिये अर्थात् दुष्प्रवृत्तियोंको एक साथ अमृत भी दीजिये, विष भी दीजिये; उनकी अतृप्तिमें तड़पिये भी और तृप्तिमें मुस्कराइये भी; और यह कार्य धीरे-धीरे करते रहिये। इस धीरे-धीरेवाली पद्धतिसे कभी संयम और दम प्राप्त करना सम्भव नहीं; मनुष्यको जो कुछ करना है, उसे तत्क्षण ही कर लेना चाहिये। उसे योद्धाकी भाँति जीवनक्षेत्रमें कूद पड़ना चाहिये, शत्रुओंकी भाँति अपनी दुर्बलताओं और दुष्प्रवृत्तियोंको तोड़-मरोड़कर सदा-सदाके लिये नष्ट कर देना चाहिये।

भगवान् श्रीकृष्णने गीताके द्वितीय अध्यायमें इस प्रसङ्गको दो श्लोकोंमें ही स्पष्ट कर दिया है—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता २। २-३)

अर्थात् 'अर्जुन ! तुमको इस विषमस्थलमें यह अज्ञान किस हेतुसे प्राप्त हुआ ? क्योंकि यह न तो श्रेष्ठ पुरुषोंसे आचरण किया गया है, न स्वर्गको देनेवाला है, न कीर्तिको करनेवाला है। इसलिये हे अर्जुन ! नपुंसकताको मत प्राप्त हो, यह तुम्हारे योग्य नहीं है। हे परंतप ! तुच्छ हृदयकी दुर्बलताको त्यागकर युद्धके लिये खड़े हो।'

यह तो ठीक है कि व्यक्ति अपने सम्पूर्ण पौरुषके साथ जीवन-युद्धमें लग जाय और अन्तिम विजय प्राप्त करके लौटे या रणक्षेत्रमें ही अमर गति प्राप्त करे। पर आजके युगमें वह करे क्या ? मेरे मनके इस संदेहको जैसे उन्होंने अपने अन्तर्ज्ञानसे समझ लिया और स्वयं इसकी भी व्याख्या करने लगे—'आजके युगमें

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

क्या करना चाहिये, यह कोई महत्त्वपूर्ण प्रश्न नहीं है। इसे तो किसी बच्चेसे भी पूछिये, वह भी बता देगा। महत्त्व कार्य और उसकी दिशाको जाननेका नहीं, उसे क्रियारूपमें परिणत करनेका है।

'और यह कार्य करनेकी प्रेरणा कौन देगा ? ईश्वर अन्तरात्मा ! विशाल हृदय और विकारहीन चित्त। क्या यह सहसा उत्पन्न होगी या क्रमशः ? फिर क्रमशः यह क्या होता है ? माथेपर डंडेकी चोट लगते ही तत्क्षण क्रियात्मक चेतना जाग्रत् हो जाती है ? जो कुछ करना है, उसमें विलम्ब क्यों ? धीरे-धीरे किसलिये ? कल और परसोंके वायदोंसे लाभ ? आज और अभी किस कारण नहीं ?' कहते हुए तपस्वीने मौन साध लिया। उनकी वाणी अन्धकारमें एक तीव्र आलोकका प्रसार करती हुई आज भी मेरे अन्तर्मनमें जैसे झंकृत हो रही है। इस घटनाको वर्षों बीत गये; पर लगता है जैसे यह आजकी ही बात हो और अभी-अभीकी।

भारतीय संस्कृतिका एक आवश्यक अङ्ग—गोरक्षा

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

मानव एक चिन्तनशील प्राणी है। वैसे तो पशु-पक्षी भी अपने उपकारीके प्रति श्रद्धा रखते हैं और हिंसक होते हुए भी अपने पालक, पोषक एवं रक्षक प्राणीकी हत्या नहीं करते। मानव जो प्रकृतिकी श्रेष्ठ कृति माना जाता है, उसके लिये तो केवल उपकारीका रक्षण करना ही आवश्यक नहीं होता, बल्कि उसे अधिकाधिक सुख-सुविधा देकर उपकारका बदला चुकाना भी आवश्यक हो जाता है। माता-पिता एवं गुरुजनोंकी सेवा-भक्ति पशु-पक्षियोंमें लंबे समयतक और उतने परिमाणमें नहीं होती, जितनी मनुष्यमें होती है; क्योंकि वह किसीके थोड़े-से उपकार भी अधिक समयतक स्मरण रख सकता है और दूसरेके उपकारको ऋण समझकर, उसका बदला चुकाकर उससे उऋण होना अपना कर्तव्य समझता है। पशु-पक्षियोंका ज्ञान और व्यवहार इस लोकतक ही सीमित है, पर मानव तो परलोककी भी सोचता है। वह मानता है कि इस लोकमें, इस जीवनमें किसीका ऋण चुकाया न जा सका तो भावी जन्म-जन्मान्तरोंमें उसे चुकाना ही पड़ेगा, ऋणको बिना चुकाये छुटकारा या मुक्ति नहीं मिलेगी। अब हमें सोचना यह है कि 'गौ'का हमपर कितना उपकार है और उसके प्रति हमारा क्या कर्तव्य है।

बाल्यकालसे ही हमारे ऊपर गौका उपकार या ऋण चालू हो जाता है। माँका दूध क्रमशः घटता जाता है और बच्चेकी भूख क्रमशः बढ़ती जाती है। स्थिति यहाँतक चली जाती है कि केवल माताके दूधसे उसकी क्षुधा-निवृत्ति नहीं हो पाती। दूध उसके शरीरको पुष्ट करनेवाला और शक्ति देनेवाला होनेसे उसकी आवश्यकता तो बड़े होनेपर भी बनी रहती है; पर बच्चेके लिये तो वही आरम्भसे अभ्यस्त आहार है तथा जहाँतक दाँतोंसे चबानेकी शक्ति नहीं मिल जाती, वहाँतक अन्न उसके स्वास्थ्यके अनुकूल नहीं होता। इसलिये जब माताके दूधसे उसका पेट पूरा नहीं भरता तो गायका दूध उस कमीकी पूर्ति कर देता है। अतएव बाल्यजीवनसे ही 'गौ' का स्थान 'माता'के समान ही उपकारी बन जाता है।

युवावस्थामें बल-वीर्यकी वृद्धिके लिये गौका दूध और दूधसे निष्पन्न दही, मक्खन, घृत, छाछ आदिका उपयोग अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होता है और फिर इनमेंसे एक-एक पदार्थसे अनेक प्रकारके खाद्य और पेय बनते हैं। रोगी और वृद्धके लिये गौ-दूधका सेवन आवश्यक है ही, घीकी उपयोगिता और विशेषतः राजस्थान आदि प्रदेशोंमें शाकाहारियोंके लिये तो उसका और भी अधिक महत्त्व है। इस सम्बन्धमें मैं एक स्वतन्त्र लेख प्रकाशित कर चुका हूँ।

वास्तवमें मांसाहारी लोग भी इस बातको स्वीकार करते हैं कि दूध और घी उचित परिमाणमें मिलता रहे तो मांसाहारकी आवश्यकता और उपयोगिता ही नहीं रहती। गायका केवल दूध ही उपकारी नहीं है, उसके शरीरसे निकलनेवाले साधारणतया अपवित्र एवं अस्पृश्य माने जानेवाले मूत्र और विष्ठा (जिसे गोबर कहते हैं) भी बहुत उपयोगी हैं। गो-मूत्र और गोबर—इन दोनोंको

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

हिंदू धर्मशास्त्रोंमें पवित्र माना गया है। अपवित्र भूमिपर गोबर लीप देनेसे वह पवित्र बन जाती है। वैसे गोबरसे उपले-थेपड़ी आदि बनते हैं, जो अग्नि उत्पन्न करने-जलानेके लिये बहुत काममें आते हैं। उससे काष्ठ और लकड़ियोंकी बचत हो जाती है। अतः उन काष्ठोंका उपयोग मकान, फर्नीचर आदिमें कर सकनेकी सुविधा मिल जाती है। यदि गोबरकी बनी हुई थेपड़ी आदिका उपयोग रसोई बनाने आदिमें न किया जाता, तो उसके बदलेमें न जाने कितना काष्ठ अन्य आवश्यकताओंमें उपयुक्त होता। वैसे गोबरका उपयोग खेतोंमें खादके रूपमें उपयोगी है ही; गो-मूत्र अनेक रोगोंका नाशक है; इसलिये औषधके रूपमें भी उसका विविध प्रकारसे उपयोग किया जाता रहा है। गायके मर जानेपर भी उसकी हड्डी और चमड़ी भी कितनी काम आती है, यह सर्वविदित ही है। गो-पुत्र बछड़े या बैलका भी हमारे ऊपर बड़ा उपकार है। भारतमें कृषिके लिये तो बैल आधार है ही, पर वाहन और माल ढोनेके रूपमें भी बैलोंकी बहुत अधिक उपयोगिता है। कितने लंबे कालसे वे हमारी अनेक रूपोंमें सेवा करते आ रहे हैं— इसपर भी गम्भीरतासे विचार करें तो गो-वंशके उपकारका बहुत बड़ा ऋण हम सबपर दिखायी देगा। अब हमें यह विचारना है कि इतने बड़े उपकारी प्राणीके प्रति हमारा क्या कर्तव्य होना चाहिये; क्योंकि 'कृतघ्नता' महान् पाप माना गया है। किसीके किये हुए उपकारको भूलकर हम अपनेको मानव कैसे कह सकते हैं।

हमारे पूर्वजोंने गो-वंशके इन महान् उपकारोंको ध्यानमें रखते हुए ही गौको इतना अधिक महत्त्व दिया है कि ३३ करोड़ देवता उसके शरीरमें निवास करते हैं—ऐसा मान लिया गया है। इतना विशिष्ट पद या सम्मान और किसी भी प्राणीको प्राप्त करनेका सौभाग्य नहीं मिला। एक गौकी पूजा करनेसे ३३ कोटि देवताओंकी पूजा स्वयं हो जाती है। यह कोई साधारण बात नहीं। प्राचीन कालमें बड़े यत्नसे गौका पालन-पोषण, रक्षण किया गया है; तभी तो गोवंशकी इतनी वृद्धि हुई कि दो-चार या दस-बीस ही नहीं, चालीस, साठ और अस्सी हजारका गो-कुल रखनेवाले जैन श्रावकों-का उल्लेख 'उपासक दशांग' नामक सातवें अंग-सूत्रमें पाया जाता है। इधर वेदों-पुराणोंमें भी ऋषि-मुनियोंको हजारों गौओंका दान राजालोग किया करते थे, इसके अनेक उल्लेख मिलते हैं। गो-दानको इतना महत्त्व दिया गया कि विवाहके समय माता-पिता और कुटुम्बीजनोंकी ओरसे कन्यादानके साथ गोदान करना भी आवश्यक माना गया है। मरते समय भी प्राचीन संस्कृतिमें पले हुए हिंदूके दिलमें यह भावना बड़े गहरे रूपमें बैठी हुई थी कि वह एक गौका दान ब्राह्मणको अवश्य ही करे। इस भावनाका महत्त्व हमें सुप्रसिद्ध उपन्यास-लेखक श्रीप्रेमचन्दका 'गो-दान' पढ़नेसे भलीभाँति विदित हो जाता है।

मुसल्मानोंके आगमन एवं विस्तारसे पहले भारतमें गायोंकी संख्या बहुत अधिक थी। यह महाकवि कालिदास-के 'रघुवंश'से स्पष्ट है। गो-सेवाको इतना अधिक धार्मिक महत्त्व दिया गया कि गोरक्षणके लिये दिलीप अपने प्राणोंका बलिदान करनेके लिये तत्पर हो गये। मुसल्मानोंने हिंदुओंकी इस गो-भक्ति या धार्मिक भावनाका अनुचित लाभ उठाया। जहाँ और किसी भी तरह युद्धमें विजय प्राप्त करना सम्भव नहीं रहा, वहाँ उन्होंने गायोंको सामने खड़ा कर दिया। गो-रक्तको तालाब आदि जलाशयोंमें डाल दिया, जिससे गौ न मारी जाय—इस धार्मिक भावनाके कारण हिंदू-योद्धा शत्रुओंको मारनेके लिये आगे न बढ़ें और जलाशयोंमें गो-रक्तके छींटे देखकर उसका जल अपेय मान बैठें। चूँकि जलके बिना जीवन टिक नहीं सकता, इसलिये हजारों हिंदू-वीरोंको मरनेके लिये बाध्य होना पड़ा। राजस्थानके इतिहासमें ऐसी एक नहीं, अनेक घटनाएँ मिलती हैं कि गो-रक्षणके लिये अनेक वीरोंने अपने प्राणोंकी आहुति दे दी। उनमेंसे पाबूजी, गोगाजी, तेजाजी आदि तो लोक-देवताके रूपमें पूजे जाते हैं। अभी-अभी मैंने अलाउद्दीनके समयकी घटना जो सिवाणा-के सातलकी बात और 'कान्हड़ दे प्रबन्ध' में पढ़ी तो रोमाञ्च हो आया। अलाउद्दीन सात वर्षोंतक सिवाणा दुर्ग-पर घेरा डाले रहा, पर विजय प्राप्त नहीं कर सका। अन्तमें उसने कुबुद्धिसे गायोंको मारकर गढ़के सरोवरमें उनके अङ्गोपाङ्ग और रक्त डाल दिये, जिससे पानी भ्रष्ट हो गया और जलाभावसे मरना ही होगा, यह सोचकर रानियोंने जौहर किया और वीरोंने केशरिया पहना। इस तरह हजारों

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

हिंदू नर-नारियोंको मरनेको बाध्य होना पड़ा और उनके मरनेपर ही अलाउद्दीन सिवाणेके गढ़में प्रवेश कर सका।

हिंदुओंकी धार्मिक भावनाओंपर आघात पहुँचाना मुसल्मानोंका धर्म मान लिया गया। फलतः सैकड़ों तीर्थ-स्थान, मन्दिर एवं मूर्तियोंका विध्वंस हुआ और लाखों गायें कतल कर दी गयीं। हिंदुओंको मुसल्मान बननेको बाध्य किया गया। इस तरह गो-वंशपर महान् अत्याचारका आरम्भ भारतमें मुसल्मान-साम्राज्यमें हुआ और आश्चर्य है कि अब पाकिस्तान अलग हो जानेपर भी भारतमें गो-हत्याका सिलसिला जारी है। करोड़ों व्यक्तियोंकी माँगको सरकार ठुकरा रही है और गोहत्या-निषेध कानून अभीतक नहीं बन पाया तथा अहिंसाप्रधान भारतमें हिंसाको बढ़ावा मिल रहा है। अंग्रेजी शासनके समय वृद्ध और दूध न देनेवाली गायोंकी जब दुर्दशा होने लगी, तब दया-धर्मशील व्यक्तियोंने अनेक स्थानोंपर पिंजरापोल, गोशालाएँ स्थापित कीं। पर आज उनकी भी स्थिति शोचनीय हो गयी है, क्योंकि घास आदिकी मँहगाई बहुत बढ़ गयी है। गोचर-भूमिकी तथा साथ ही धार्मिक भावनाकी भी कमी हो गयी है, जिससे गोशालाओंका खर्च निभ नहीं पाता। लोग बहुत स्वार्थी हो गये हैं, गौओंका कष्ट बहुत बढ़ गया है। इस विषम परिस्थितिमें गोरक्षण प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य हो जाता है। हमें तत्परतासे गोहत्या और गौके कष्टके निवारणमें प्रयत्नशील होना चाहिये। अन्यथा भारतीय संस्कृतिका एक अङ्ग विलुप्त हो जायगा।

महात्मा गान्धीने एक फरवरी सन् १९४२ के एक लेखमें लिखा था—'आज तो गाय मृत्युके किनारे खड़ी है और मुझे भी यकीन नहीं है कि अन्तमें हमारे प्रयत्न इसे बचा सकेंगे। लेकिन यह नष्ट हो गयी तो उसके साथ ही हम भी यानी हमारी सभ्यता और संस्कृति भी नष्ट हो जायगी।'

पण्डित उदयवीर शास्त्रीने 'भारतका सांस्कृतिक प्रतीक—गौ' शीर्षक लेखमें लिखा है—'अध्यात्ममूलक भारतीय संस्कृतिका प्रथम द्वार है—वैदिक कर्मकाण्ड और यज्ञादिका अनुष्ठान। इन अनुष्ठानोंका मुख्य आधार-द्रव्य है—गो-घृत और गो-दुग्ध। भारतीय संस्कृतिका वैदिक अनुष्ठान गव्यके बिना सम्पन्न नहीं हो पाता। पर आज हम गौको माता तो कहते हैं, पर उसका एक बूँद दूध खींच लेनेके लिये हम अपनेको कठोर और नीरस बना लेते हैं। अनेक अवस्थाओंमें उसे भूखों मारकर हम उसे हाड़-पिंजर बना देते हैं। उसके बछड़ोंकी हम कैसी दुर्दशा करते हैं? उसे पूरा खानेतकको नहीं देते, बैलपर हम कैसे-कैसे जुल्म ढाते हैं, उसे बधिया बनाते हैं, डंडे, चाबुक आदिसे पीटते हैं।' हमें अब अपनी इस कृतघ्नता और निर्दयतासे बाज आना चाहिये।

सम्राट् अकबरके समय गो-हत्या बंद कर दी गयी थी। उसमें कई हिंदू जैन-मुनि-महात्माओं तथा विद्वानोंका बड़ा योग रहा है। अकबरकालीन अनेक शिलालेखों एवं ग्रन्थ प्रशस्तियोंमें इसका स्पष्ट उल्लेख है कि अकबरने गो-रक्षणके फरमान जारी किये। एक मुसल्मान सम्राट्ने जो कार्य किया, वह भी हमारी अपनी सरकार न कर सके—यह बहुत ही लज्जा एवं दुःखकी बात है।

कहनेके लिये राज्य जनताका है। पर जनताकी आवाज सुनी नहीं जाती। करोड़ों व्यक्तियोंकी भावनाको ठेस पहुँचायी जाती है। यह देखकर बहुत ही आश्चर्य होता है। भारतके हिंदू ही नहीं, मुसल्मान भी बहुत-से इसके पक्षमें हैं।

गो-वर्धनके नामसे लाखों रुपये सरकार खर्च भी करती है, पर गौकी हत्या बंद करनेके कानून बनानेमें हिचकती है। यह किसी भी तरह शोभनीय नहीं।

गौका विधिवत् पालन-संरक्षण किया जाय तो राष्ट्रीय स्वास्थ्य एवं सम्पत्ति दोनोंकी अतिवृद्धि होगी। जिस भारतमें दूध-दहीकी नदियाँ बहती कही जाती हैं, वहाँ आज शुद्ध दूध एक-दो सेर भी नहीं मिल पाता। यह गो-वंशकी कमीके ही कारण है। विदेशोंसे दूधके पाउडर डिब्बे आते हैं, बच्चोंको वे उसका दूध पीनेको फ्री भेजते हैं और भारतसे आपके लिये दूध मिलना कठिन हो रहा है। यह स्थिति किसी भी तरह निभाने योग्य नहीं? सरकार गम्भीरतासे सोचे और जनताकी आवाजका आदर करे।

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

दक्षिण भारतकी तीर्थयात्रा

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती रत्नकुमारी देवी, श्रीगोविन्दप्रसादजी श्रीवास्तव)

[गताङ्क पृष्ठ १००४ से आगे]

भय-विसर्जनके साथ ही स्वामी विवेकानन्द विश्वास और शक्तिके साधक थे। वे इन दोनोंको ही जीवनका आधार मानते थे। विश्वास और आस्थाके अभावमें अनुराग, शक्ति और भक्तिका प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। विश्वास जाग्रत् होते ही शक्ति और भक्तिका जन्म अपने-आप हो जाता है। इस प्रकार विश्वासकी—जो हमारा आत्मबल होता है—आराधना, उसकी उपासना पहले करनी पड़ती है; इसकी उपासनासे शक्तिकी साधना अपने आप होने लग जाती है। स्वामी विवेकानन्द पहले भारतीय संन्यासी थे, जिन्होंने वेदान्तकी जटिलताको सर्व-साधारणके लिये सुलभ बना दिया। उन्होंने हमें बताया कि शक्ति ही सम्पूर्ण जगत्की आत्मा है। शक्ति ही चेतन और अचेतन जगत्का कारण है। शक्ति मनुष्यकी सर्वोपरि पूँजी है, जिसके बिना उसका जीवन व्यर्थ और असमर्थ हो जाता है। पर यह शक्ति उसी साधकको मिलती है, जो उसके सिद्धान्तोंका अनुवर्तन करता है, उससे प्रेम करता है, उसे वरण करता है और उसे सुरक्षित रखनेका प्रण करता है और जो ऐसी शक्तिकी—उसके सिद्धान्तोंकी साधना करता है। ऐसा साधक विश्वरूप—विश्वात्मा हो जाता है।

गर्वोन्नत यूरोपीय देशोंका मस्तक भारतीय ज्ञानकी गुरुताके समक्ष झुकानेवाले सर्वप्रथम भारतीय स्वामी विवेकानन्दने शिकागोके सर्व-धर्म-सम्मेलनमें भारतीय वेदान्तकी उदात्त कल्पनाका जो स्वरूप चित्रित किया, वह अमेरिकाकी सुशिक्षित जनताके हृदय-पटलपर सदा-सर्वदाके लिये अङ्कित हो गया। स्वामी विवेकानन्द दीन-दरिद्रोंकी सेवाको ही भगवान्की सेवा समझते थे। वे सभीसे कहा भी करते थे—'भाइयो! कहो, भूखा-नंगा, अनपढ़ और अछूत भारतीय मेरा भाई है। भारतके लिये जो कल्याणकारी है, वही मेरे लिये भी है। दिन-रात यही प्रार्थना करो हे महाशक्ति! मेरी दुर्बलता दूर करो, मुझे नर-वीर बनाओ।' और वास्तवमें स्वामी विवेकानन्द ऐसे ही नर-वीर महापुरुष थे। शक्तिकी साधना और देशोद्धारके लिये वेदान्तकी व्यावहारिक मीमांसाका महत्त्व इसी युवक संन्यासीने सर्वप्रथम अनुभव किया था। इतना ही नहीं, वे पहले संन्यासी थे, जिन्होंने वेदान्तको पुस्तकोंकी शुष्क सिद्धान्त-चर्चासे ऊपर उठाकर उसे सामाजिक जीवनका अङ्ग—उसकी सुव्यवस्थाका स्रोत बनाया। वे आत्मविश्वासी, सिद्ध पुरुष और भविष्य-द्रष्टा थे। यह उनके सन् १८९० में कहे इस कथनसे कि स्वतन्त्रता प्राप्त करनेके पश्चात् यदि भारत शक्तिशाली नहीं बना तो चीनकी ओरसे उसपर आक्रमण होनेका खतरा रहेगा, प्रमाणित है। उनके आत्मविश्वासके अनुसार भारतने स्वाधीनता प्राप्त की, किंतु उनकी आशङ्का भी निर्मूल नहीं निकली। भारत वास्तविक शक्ति-संचयमें अपनेको स्वावलम्बी नहीं बना पाया और चीनका उसपर आक्रमण हो गया। इस प्रकार उनकी भविष्यवाणी सर्वथा सत्य सिद्ध हो चुकी है।

आज इस सिद्ध पुरुषके बोल हमारे कानोंमें गूँज रहे हैं। देशकी परतन्त्रताके दिनोंमें उस महापुरुषने राष्ट्रको आह्वान किया था शक्ति-संचय—बल-संचयके लिये। उसने पुकारकर कहा था, राष्ट्रके युवकोंसे—''मेरे साहसी युवको! यह विश्वास रक्खो कि तुम्हीं सब कुछ हो—महान् कार्य करनेके लिये इस धरतीपर आये हो। गीदड़-घुड़कियोंसे भयभीत न हो जाना—नहीं; चाहे वज्र भी गिरे, तो भी निडर हो खड़े हो जाना और कार्यमें लग जाना। तुम्हारे देशको वीरोंकी आवश्यकता है, अतः वीर बनो। पर्वतकी भाँति अडिग रहो। 'सत्यमेव जयते'—सत्यकी ही सदैव विजय होती है। भारत चाहता है एक नयी विद्युत्-शक्ति, जो राष्ट्रकी नस-नसमें नया जीवन संचार कर दे। साहसी बनो, साहसी बनो; मनुष्य तो एक बार ही मरता है। मेरे शिष्य कायर न हों। मुझे कायरतासे घृणा है। गम्भीर-से-गम्भीर कठिनाइयोंमें भी अपना मानसिक संतुलन बनाये रखो; क्षुद्र अबोध जीव तुम्हारे विरुद्ध क्या कहते हैं, इसकी तनिक भी परवा न करो। उपेक्षा! उपेक्षा! उपेक्षा! ध्यान रक्खो—आँखें दो हैं, पर मुँह केवल एक है। पर्वतकाय विघ्न-बाधाओंमेंसे होते हुए ही सारे महान् कार्य सम्पन्न होते हैं। अपना पुरुषार्थ प्रकट करो। काम और काञ्चनमें जकड़े हुए मोहान्ध व्यक्ति उपेक्षाकी ही दृष्टिसे देखे जाने योग्य हैं।

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

"तुम क्यों रोते हो, बन्धु ? तुम्हींमें तो सारी शक्ति निहित है। ऐ महान् ! अपनी सर्वशक्तिमान् प्रकृतिको उद्बुद्ध करो; देखोगे, यह सारी दुनिया तुम्हारे पैरोंपर लोटने लगेगी। एकमात्र आत्मा ही शासन करती है, जड पदार्थ क्या शासन करेगा ? अपनेको शरीरसे अभिन्न समझनेवाले मूर्ख व्यक्ति ही करुण स्वरसे चिल्लाते हैं—'हम दुर्बल हैं, हम दुर्बल हैं।' आज देशको आवश्यकता है साहस और वैज्ञानिक प्रतिभाकी। हम चाहते हैं—प्रबल साहस, प्रचण्ड शक्ति और अदम्य उत्साह। स्त्रियोचित व्यवहारसे काम नहीं बननेका। भाग्यलक्ष्मी उसीके पास आती है, जो पुरुषार्थी है, जिसके सिंहका हृदय है। पीछे देखनेका काम ही नहीं। आगे! आगे! बढ़े चलो ! हम चाहते हैं—अनन्त शक्ति, असीम उत्साह, अनन्त साहस और अनन्त धैर्य। तभी महान् कार्य सम्पन्न होंगे।

"वेदान्त 'पाप' की बात नहीं मानता, यह केवल 'भूल' की बात स्वीकार करता है; और उसके मतसे तुम सबसे बड़ी भूल तो तब करते हो, जब तुम कहते हो—'मैं कमजोर हूँ, मैं पापी हूँ, एक दुखी जीव हूँ; मुझमें कुछ भी शक्ति नहीं—मुझमें कुछ भी करनेकी ताकत नहीं।'

"प्राचीन धर्मोंने कहा, 'वह नास्तिक है, जो ईश्वरमें विश्वास नहीं करता।' नया धर्म कहता है—'नास्तिक वह है, जो स्वयंमें विश्वास नहीं करता।'

'बल ही जीवन है और दुर्बलता मृत्यु। बल ही परम आनन्द है, शाश्वत और अमर जीवन है। दुर्बलता निरन्तर भारस्वरूप है, दुःखस्वरूप है। दुर्बलता ही मृत्यु है। बचपनसे ही तुम्हारे मस्तिष्कमें यह रचनात्मक, बलप्रद और सहायक विचार प्रवेश करे।

"दुःखभोगका एकमात्र कारण है, दुर्बलता। हम दुखी हो जाते हैं, क्योंकि हम दुर्बल हैं। हम झूठ बोलते हैं, चोरी करते हैं, हत्या करते हैं, तरह-तरहके अपराध करते हैं—क्यों ? इसलिये कि हम दुर्बल हैं। हम दुःख भोगते हैं, क्योंकि हम दुर्बल हैं। हम मर जाते हैं, क्योंकि हम दुर्बल हैं। जहाँ हमें दुर्बल कर देनेवाली कोई चीज नहीं, वहाँ न मृत्यु है, न दुःख।

"खड़े होओ, साहसी बनो, शक्तिमान् बनो। सारा उत्तरदायित्व अपने कंधोंपर लो और जान लो कि तुम्हीं अपने भाग्यके विधाता हो। तुम्हें जो कुछ बल और सहायता चाहिये, सब तुम्हारे ही भीतर है। अतएव अपना भविष्य तुम स्वयं गढ़ो।"

इस प्रकार अभय, विश्वास और शक्तिकी अवतारणाका न केवल उपदेश वरं उसका व्यावहारिक और क्रियात्मक उदाहरण हमें महात्मा गांधीके जीवनसे मिलता है। महात्मा गांधीके रूपमें आधुनिक युगकी एक ऐसी उपलब्धि हमें प्राप्त हुई, जिसके सम्मुख आज कार्यसिद्धियाँ ही नहीं, विश्वशक्तियाँ नत-मस्तक हैं।

हमलोगोंने स्वामी विवेकानन्दकी ध्यानभूमि, पूजाभूमिको नमस्कार करके उस महापुरुषको अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की, जिसने भारतीय पराधीनताके समयमें अध्यात्म, संस्कृति और स्वाधीनताके लिये जागरण-मन्त्र दिया।

कन्याकुमारी-मन्दिर धार्मिक क्षेत्रका एक प्रधान आकर्षण है, प्रधानतया जिसके दर्शनके लिये ही हमने अपनी यात्रामें कन्याकुमारीका कार्यक्रम सम्मिलित किया। मन्दिर दक्षिणके अन्य मन्दिरोंकी तरह दीर्घाकार क्षेत्रमें फैला हुआ है। अतः मन्दिरकी विशेषताकी दृष्टिसे हमारे सामने दक्षिणके अन्य अनेक स्थानोंके मन्दिर देख चुकनेके कारण कोई नया आकर्षण और नयी बात न थी। हाँ, समुद्रतटपर इसके निर्माणके कारण इसकी शोभावृद्धि अवश्य हुई है। मन्दिरमें देवी कुमारीकी प्रतिमाके दर्शन करके हमें कुछ हर्ष, कुछ आश्चर्य अवश्य हुआ। प्रतिमा श्यामवर्णकी न होकर गौरवर्णकी है, जो दक्षिणके अन्य सभी देवालयोंकी मूर्तियोंके सर्वथा विपरीत है। हमें आरम्भसे ही इस बातपर कुछ आश्चर्य था कि विष्णुकी तो श्याम प्रतिमा होना स्वाभाविक है, परंतु शंकर, पार्वती, लक्ष्मी आदिकी प्रतिमाएँ भी दक्षिणमें श्याम क्यों हैं; क्योंकि पुराणोंमें इनके रूप-स्वरूपके जो वर्णन मिलते हैं, उनमें ये सब देवी-देवता गौरवर्णके कहे गये हैं। इसलिये कन्याकुमारीकी यह गौर प्रतिमा देख हमारा हर्षित होना कदाचित् स्वाभाविक था। परंतु बादमें हमें ज्ञात हुआ कि दक्षिणकी प्रथाके अनुसार कन्याकुमारीकी मूर्ति भी श्याम ही है; गौर तो वह हमें इसलिये दृष्टिगोचर हुई कि सारी प्रतिमापर श्वेत चन्दनका लेप था। कन्याकुमारीकी यह मूर्ति, जैसा कि पौराणिक आख्यानमें उनकी सुन्दरताका वर्णन हमें मिलता है, बहुत ही आकर्षक और दिव्य है। श्वेत चन्दनके आलेपसे तथा वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत देवी कुमारीके जब उनकी आरती और अभिषेकके समय दर्शन खुलते हैं, उनकी मनोहारिणी

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

दिव्य छटा देखते ही बनती है। दर्शक मन्त्रमुग्ध-सा देवी कुमारीके इस दिव्य स्वरूपसे उनके साकाररूपकी परिकल्पनामें सहज ही खो जाता है। हम सबने अन्य देवस्थानोंकी भाँति यहाँ भी दान-पुण्य-पूजनादि किया। देवदर्शन और दान-पुण्यादिकी व्यवस्थाके लिये यहाँ एक देवस्थानम् कमेटी है, जो सुचारु और सुव्यवस्थितरूपसे यात्री-से ब्राह्मण-भोजन, कन्या-भोजन, अपंग-भोजन तथा अन्य विधि-विधान विधिवत् करा दर्शकोंके दर्शनलाभमें सहायक होती है।

कन्याकुमारीके निकट एक और देवस्थान 'शुचीन्द्रम्' प्रसिद्ध है। हमलोग कन्याकुमारीसे चलनेवाली नियमित बसद्वारा शुचीन्द्रम् पहुँचे और बसद्वारा ही वापस लौटे। प्रायः धार्मिक भावनासे आनेवाले प्रत्येक यात्रीके लिये शुचीन्द्रम् जाना आवश्यक माना जाता है।

प्रत्येक देवस्थानके सदृश ही शुचीन्द्रम्के नामकरण और इसकी प्रतिष्ठाके पीछे एक रोचक उपाख्यान मिलता है। कहा जाता है, इन्द्र गौतम मुनिकी पतिव्रता पत्नी अहल्यापर मुग्ध होकर उसे पानेकी इच्छासे मुनिकी अनुपस्थितिमें मुनिका ही वेष धारणकर अहल्यासे जा मिला तो नदीके तटपर ध्यानावस्थित गौतमको ज्ञानदृष्टि-से इसका आभास हो गया। वे तुरंत लौटकर आश्रम आये और अपराधी इन्द्रको उन्होंने शाप दे दिया। इस शापसे मुक्ति पानेके लिये इन्द्रने ज्ञानारण्यम् (वर्तमान शुचीन्द्रम्) में दीर्घकालतक तप किया। अन्तमें शिवजीके आशीर्वादसे उसकी आत्मा शुद्ध हो गयी और वह शापके प्रभावसे मुक्त हो गया। इस प्रकार इस स्थानका नाम शुचीन्द्रम् पड़ गया। 'शुचीन्द्रम्' दो शब्दोंके योगसे बना है—शुचि, इन्द्रम्। अतः शुचीन्द्रम्का अर्थ हुआ इन्द्रकी शुद्धिका स्थान।

शुचीन्द्रम्की धार्मिक महिमासे सम्बन्धित एक पौराणिक आख्यान भी उल्लेखनीय है। कहा जाता है एक बार अत्रि मुनि-ने अपनी पत्नी अनसूयासहित ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों-के दर्शनके लिये तप किया। नारदजीके परामर्शके अनुसार तीनों देवताओंने अनसूयाके पातिव्रत्यकी परीक्षा लेनेका निश्चय किया। उन्होंने तीन मुनियोंका रूप धारण किया और अनसूयाके पतिकी अनुपस्थितिमें आश्रमके द्वारपर आ पहुँचे। अनसूयाने उनका स्वागत किया। स्वागतोपरान्त मुनियोंने भोजनकी कामना प्रकट की। अनसूयाने आदरपूर्वक उनको भोजन परसा; किंतु मुनियोंने इच्छा प्रकट की कि उन्हें बिना वस्त्र धारण किये भोजन परोसना चाहिये। अनसूया अतिथि-सत्कारके नाते उनकी बात नहीं टाल सकती थी। उसने अपने पातिव्रत्यके प्रभावसे तुरंत उन तीनोंको दूध-पीते बच्चोंके रूपमें बदल दिया और सस्नेह उनको भोजन कराने लगी।

नारदजीने यह दृश्य देखकर तीनों देवताओंकी पत्नियों-को सूचित किया। तीनों देव-पत्नियाँ अपने पतियोंकी खोज करते-करते वहाँ पहुँचीं और अनसूयासे माङ्गल्य-भिक्षा माँगी। अनसूयाने अपने पातिव्रत्यके प्रभावसे पुनः उन तीनोंको उनके वास्तविक रूपमें परिवर्तित कर दिया। इतनेमें अत्रि-ऋषि भी वापस आ पहुँचे और उन्होंने सपत्नीक तीनों देव-देवियोंके दर्शन किये।

बताया जाता है जिस स्थानपर उन्होंने दर्शन किये, वहीं वर्तमान मन्दिर बना है, जिसमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनोंकी पूजा होती है। इसीको आजकल 'शुचीन्द्रमन्दिर' कहते हैं। इसके निकट जहाँ अत्रि मुनि और अनसूयाका आश्रम था, उसका नाम आज भी आश्रायम है। पौराणिक मान्यताके अनुसार इन्द्रने शिवकी इसी मन्दिरमें पूजा की थी और कहा जाता है आज भी हर रात्रिमें इन्द्र पूजन करने आते हैं।

शुचीन्द्रम् एक छोटा कस्बा है, जो हरे-भरे खेतों और नारियल एवं केलेके उद्यानोंसे घिरा हुआ होने तथा इस मन्दिरके कारण एक मनोरम देवस्थान बन गया है।

हमारा कार्यक्रम यद्यपि १९ सितम्बरके प्रातःकाल ही कन्याकुमारी छोड़ देनेका था, कन्याकुमारीके मनोरम प्राकृतिक दृश्योंने हमें आकर्षित किया और कभी न बदलने-वाले अपने कार्यक्रमको हमने स्थगितकर एक दिन बाद यानी २० सितम्बरको कन्याकुमारीसे विदा ली। कन्याकुमारी-से टिनेवलीके लिये हम दो टैक्सी मोटरोंसे रवाना हुए। यद्यपि इस मार्गमें मोटर बसकी भी व्यवस्थाएँ हैं, फिर भी चूँकि मार्गमें हमें छोटे नारायण, लंबे नारायण और तोताद्रि आदि देवस्थानोंके दर्शन करने थे; अतः सुविधाकी दृष्टिसे मोटर टैक्सीद्वारा ही यात्रा करना हमें अधिक उपयुक्त जान पड़ा।

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

मार्गमें मिले इन देवमन्दिरोंमें श्रद्धा-भक्तिसहित दर्शन एवं कुछ मनौती-चढ़ौतरी करके आगे बढ़ जाते। छोटे नारायण और लंबे नारायणके पृथक्-पृथक् दर्शन करके भी हमें इन दो देवमन्दिरों और इन मन्दिरोंके दो देवोंमें कोई पृथक्ता अथवा कोई बड़ाई-छोटाई दृष्टिगोचर नहीं हुई। स्थानीय पुजारियोंसे भी हमने पूछ-ताछ की, पर छोटे नारायण और लंबे नारायणके इस नामकरणका रहस्य हमारी समझमें नहीं आया। 'नारायण' क्या छोटे, क्या बड़े ? अर्थ, भाव और भक्तिकी दृष्टिसे भी ये नाम दोषपूर्ण हैं। अतः इन मन्दिरोंके नाम एकदम परिवर्तित होने चाहिये।

छोटे नारायण और लंबे नारायणके दर्शनोपरान्त हमलोग जब तोताद्रि पहुँचे, लगभग एक बज रहा था। तोताद्रि-मन्दिरके पट बारह बजे बंद हो जाते हैं। अतः हमारे तोताद्रि पहुँचते ही मन्दिरके अधिकारियोंने प्रथम तो हमें पट बंद होनेकी खबर दी। बादमें हमलोगोंपर विशेष कृपा करके पट खोल दिये, जिससे हमलोगोंने देव-दर्शनका लाभ उठा लिया। दर्शनके उपरान्त हमने मन्दिरमें अपनी भेंट-पूजा अर्पित की और मन्दिरके पिछवाड़े एक विशाल कुण्डके किनारे चबूतरेपर बैठ हम सबने दोपहरका भोजन किया, जो कन्याकुमारीसे ही हम अपने साथ लाये थे। भोजनोपरान्त हम टिनेवलीके लिये चल पड़े। तोताद्रिमें कुछ देरसे पहुँचनेपर मन्दिरके पट बंद मिलने और हमारे लिये पुनः खोले जानेकी बातपर हमलोग आपसमें चर्चा करते रहे। सिद्धान्ततः यह एक गलत बात हुई। नियम-भङ्ग एक दोष ही माना जाना चाहिये। भले ही यह बात हमारे हितके अनुकूल क्यों न हुई हो, किंतु मन्दिरकी प्रतिष्ठा, देव-दर्शनकी मर्यादा और अन्यान्य यात्रियोंकी दृष्टिसे इस प्रकार यदा-कदा नियम-भङ्ग होना न मन्दिरकी प्रतिष्ठाके अनुकूल ही है और न यात्रियोंकी श्रद्धा-भक्तिके। अतः इस सम्बन्धमें एक ही नियम और एक ही समयकी पाबंदी सदा की जानी चाहिये—चाहे दर्शन करनेवाला यात्री साधारण कोटिका हो अथवा कोई अमीर। अन्यथा मन्दिरके माहात्म्य और प्रतिष्ठापर इसका प्रतिकूल असर पड़े बिना नहीं रहेगा।

लगभग चार बजे हमलोग टिनेवली पहुँचे और संध्याको पाँच बजे रेलद्वारा रवाना होकर रात्रिके साढ़े ग्यारह बजे मदुरा पहुँच गये। मदुरा स्टेशनपर रात्रि-विश्राम करके प्रातः स्टेशनके निकट ही बनी धर्मशालामें हमने अपना पड़ाव डाल दिया।

मदुरा गोविन्ददास तो कई बार आ चुके थे और उनकी पत्नी भी सन् १९१६ में गोविन्ददासके माता-पिताके साथ आ चुकी थीं; किंतु शेष लोगोंके लिये मदुरा-आगमनका यह प्रथम अवसर था। अतः उत्सुकताभरी दृष्टिसे सभी लोग मदुरा-दर्शनके लिये, विशेषकर यहाँके मीनाक्षी-मन्दिरके लिये भोर होते ही लालायित हो उठे।

मदुरा तमिळनाड प्रदेशका ही नहीं, अपितु समस्त दक्षिण भारतका कदाचित् सबसे पुराना नगर है। फिर सांस्कृतिक दृष्टिसे यह नगर दक्षिण भारतका सबसे प्रधान नगर रहा है। आधुनिक कालमें भी दक्षिण भारतमें मद्रासके बाद मदुराका स्थान आता है और सांस्कृतिक दृष्टिसे तो आज भी इसका मद्राससे ऊँचा स्थान है।

मदुराकी महत्ताके बारेमें एक बात सर्वसम्मत है और वह यह कि मदुरा भारतके प्राचीनतम नगरोंमेंसे एक है। गत ढाई हजार वर्षोंसे यह दक्षिण भारतमें द्राविड़ संस्कृति एवं सभ्यताका प्रधान केन्द्र रहा है। यूरोपियन विद्वानोंने मदुराको दक्षिण भारतका 'एथेन्स' बताया है। उनका कथन अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है। वस्तुतः मदुराका इतिहास दक्षिण भारतका इतिहास है। दक्षिण भारतकी सांस्कृतिक गरिमाके दर्शन यदि आप किसी एक स्थानपर करना चाहें तो मदुराका "तमिळ-संगम" और "मीनाक्षी-मन्दिर" पर्याप्त होंगे।

मदुराका शाब्दिक अर्थ माधुर्य अथवा सुरम्यता है। मदुरा वास्तवमें एक सुरम्य स्थल है। अन्य प्राचीन तमिळ नगरोंकी भाँति यह सरिता-तटपर बसा है और हरे-भरे वृक्षों एवं उद्यानोंसे घिरा है। विदेशी-पर्यटक प्रतिवर्ष भारी संख्यामें इस ओर आकृष्ट होते हैं, जिसका श्रेय मदुराकी ऐतिहासिकताके साथ-साथ इसकी सुरम्यताको भी है।

मदुराके नामकरणकी एक बड़ी विचित्र कहानी है, जो दक्षिण भारतके अन्य अनेक धार्मिक स्थलोंकी भाँति पौराणिक मान्यतापर आधारित है। कहते हैं देवराज इन्द्रने एक बार यहाँ तप करते हुए एक स्थानपर लिङ्गके दर्शन किये और वहाँपर एक मन्दिर बनवा दिया। तदनन्तर इस मन्दिरके चारों ओर एक नगर बस गया। बादमें यहाँ पाण्ड्य राजाओंका एक राज्य स्थापित हो गया।

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

जब राजा कुलशेखरने इस नगरका नामकरण करना चाहा, तब कहते हैं भगवान् शिव प्रकट हो गये। उसी समय पृथ्वीपर अमृतकी कुछ बूँदें गिर पड़ीं और तबसे इस नगरको मधुरनगर और फिर "मदुरा" कहने लगे।

मदुराकी ऐतिहासिक महत्ताका संकेत प्रारम्भमें दिया जा चुका है। यह ढाई हजार वर्षसे द्राविड़ और तमिळ संस्कृतिका केन्द्र रहा है और दक्षिण भारतका इतिहास प्रधानतया मदुरासे सम्बद्ध है। अबतक उपलब्ध ऐतिहासिक प्रमाणोंके आधारपर मदुरापर सर्वप्रथम पाण्ड्य राजाओंका आधिपत्य था। ५०० ईस्वीमें श्रीलंकापर विजयका राज्य था और उसे तत्कालीन पाण्ड्य राजाका दामाद बताया गया है। उस कालके ग्रीक और रोमन ग्रन्थोंमें भी मदुरा और पाण्ड्यवंशका उल्लेख मिलता है। उस युगके प्रसिद्ध यात्री मार्को पोलोने मदुराको संसारका सुन्दरतम और भव्यतम नगर बताया है।

अनेक प्रसङ्गोंसे, जैसा कि हम आगे भी लिख चुके हैं, सिद्ध है कि पाण्ड्य राजा कला और शिक्षाके बड़े प्रेमी थे। मदुराके तमिळ-संगमकी स्थापना उन्होंने ही की थी। सन् १३१०में अलाउद्दीनके एक सेनापति मलिक काफूरने मदुरापर आक्रमण कर दिया और लगभग आधी शताब्दीतक यह मुसलोंके अधीन रहा भी। इसके बाद विजयनगरके हिंदू राजाओंने यहाँ मुस्लिम साम्राज्यका अन्त करके पाण्ड्य राजाओंकी पुरानी सांस्कृतिक एवं धार्मिक परम्पराको पुनः प्रारम्भ कर दिया। अपने दो शताब्दियोंके शासनकालमें उन्होंने मदुरामें शान्ति बनाये रखने और इसे समृद्धिके शिखरपर पहुँचानेमें कोई प्रयत्न उठा नहीं रक्खा। विजयनगरके राजाओंको "नायकवंश"का बताया जाता है। नायकवंशका सर्वप्रथम और महानतम राजा विश्वनाथ नायक माना गया है। थिरुमल नायक इतिहासमें अपने प्रसिद्ध महल और पुदुमण्डपम्के कारण प्रसिद्ध है, जो अब भी वहाँ विद्यमान हैं। मंगम्मल नायक वंशकी उल्लेखनीय रानी रही है। मंगम्मलने अपने समयमें सड़कें बनवानेकी ओर विशेष ध्यान दिया और उनके दोनों ओर सघन छायावाले वृक्ष लगवाये। दक्षिण भारतकी बहुत-सी सड़कें आज भी मंगम्मलके नामपर प्रसिद्ध हैं। साररूपमें विजयनगरम्के इन नायक राजाओंका २०० वर्षका शासनकाल मदुराके इतिहासका स्वर्णकाल है।

सन् १७८१ से मदुरा ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनीके प्रभावक्षेत्रमें आने लगा और सन् १८४० तक यह पूर्णतया अंग्रेजोंके अधिकारमें चला गया। १८६६ में यहाँ प्रथम नगरपालिका स्थापित हुई। उस समयसे भारतकी स्वाधीनता तक मदुरापर अंग्रेजोंका शासन रहा और इसी बीच इस नगरका आधुनिकरूप विकसित हुआ।

क्षेत्रफलकी दृष्टिसे मदुरा मद्रासके बाद दूसरा सबसे बड़ा नगर है। इसकी जनसंख्या ५ लाख तथा कुल क्षेत्रफल लगभग ९ वर्गमील है। यहाँकी नगरपालिकाकी वार्षिक आय लगभग एक करोड़ एवं व्यय लगभग ८० लाख है। उद्योग-व्यापार तथा शिक्षाकी दृष्टिसे भी अब यह दक्षिण भारतका प्रमुख केन्द्र होता जा रहा है। मदुराकी विविध विशेषताएँ, जिनका वर्णन प्रारम्भमें किया गया है, अब भी न केवल भारतीय वरं विदेशी पर्यटकोंको सहस्रोंकी संख्यामें प्रतिवर्ष अपनी ओर आकर्षित करती है। देवी मीनाक्षी इस नगरकी प्रमुख आराध्य देवी हैं और मीनाक्षीका मन्दिर यहाँका ही नहीं, वरं दक्षिण भारतका सबसे बड़ा आकर्षण है। मदुरामें बारहों मास पर्व मनाये जाते हैं, इसलिये इसे 'त्यौहारोंका नगर' कहा गया है।

मदुराका मीनाक्षी-मन्दिर

यद्यपि हमारे लिये प्रधानतया यहाँका मीनाक्षी-मन्दिर ही प्रधान आकर्षण था, तथापि मीनाक्षी और मदुरा, मदुरा और मीनाक्षी—ये दोनों एक दूसरेके प्रतीक बन चुके हैं। मीनाक्षीके दर्शन तबतक नहीं किये जा सकते, जबतक मदुरा न जाया जाय और मदुराकी यात्रा तबतक पूर्ण नहीं हो सकती, जबतक मीनाक्षी देवीके मन्दिरके दर्शन न किये जायँ। इस दृष्टिसे यद्यपि हमारे सामने मदुराका भी महत्त्व कम न था, फिर भी हम मदुराके इस महत्त्वके मूल स्रोत जिस मीनाक्षी-मन्दिर और उस मन्दिरकी अधिष्ठात्री मीनाक्षी देवीके दर्शनके लिये गत निशामें मदुरा स्टेशनपर उतरते ही आतुर थे, प्रातः होते ही झटपट नित्यनियमसे निवृत्त हो, स्नानादि करके उस मन्दिरमें पहुँच गये।

मीनाक्षी देवीका मन्दिर मदुराके बीचो-बीच स्थित है। इस आयताकार मन्दिरकी दीवारें क्रमशः ८४७ फुट और ७९२ फुट हैं। नगरकी समस्त सड़कें इन दीवारोंके समानान्तर चलती हैं। अनुमानतः यह मन्दिर एक करोड़ बीस लाखकी लागतसे लगभग १२० वर्षमें बनकर तैयार हुआ था। सुन्दरेश्वर (शिव) इस मन्दिरके आराध्यदेव और मीनाक्षी आराध्यदेवी हैं। बताया जाता है, मीनाक्षी एक पाण्डय

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

राजाकी पुत्री थी और वह तीन वक्षके साथ उत्पन्न हुई थी। एक परीने राजाको बताया था कि उसका विवाह होनेपर तीसरा वक्ष अन्तर्धान हो जायगा और आगे चलकर भगवान् शिवसे उसका विवाह होनेपर ऐसा ही हुआ। कहते हैं कि इस अवसरपर अपने भक्तोंको प्रसन्न करनेके लिये भगवान् शिवने नगरमें ६४ चमत्कार दिखाये और सब जातिके नर-नारियोंके अतिरिक्त पशु-पक्षियोंने भी इसका रस लिया। इस प्रकारके चमत्कारोंके अनेक दृश्य मीनाक्षी-मन्दिरकी दीवारोंपर खुदे हुए हैं और स्थलपुराणमें इनका विस्तारसे वर्णन है।

मन्दिरमें कुल ९ गोपुर हैं, जिनमें बाह्य गोपुरोंका विशेष महत्त्व है। ये बाह्य गोपुर मन्दिरके चारों बाहरी कोनोंपर स्थित हैं। इनमेंसे दक्षिणी गोपुर सबसे ऊँचा माना जाता है। यह १५२ फुट ऊँचा है और इसपर चढ़कर समस्त नगरको एक सरसरी निगाहसे देखा जा सकता है। पूर्वी गोपुर सबसे अधिक पुराना है और इसके साथ अनेक घटनाएँ जुड़ी हैं। नायक राजाओंके शासनकालमें एक अन्यायपूर्ण सरकारी आदेशका विरोध करनेके लिये मन्दिरके एक कर्मचारीने इसपरसे कूदकर आत्महत्या कर ली थी। तबसे न तो कोई इस गोपुरकी पूजा करता है और न इसके अंदर ही जाता है। पश्चिमी गोपुरपर पौराणिक कथाओंसे सम्बन्धित अनेक दृश्य अङ्कित हैं। उत्तरी गोपुर द्राविड़ शिल्पकलाकी अनेक विशेषताओंका प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार इन चारों गोपुरोंका अपना-अपना महत्त्व है। नगरमें प्रवेश करते ही पर्यटककी दृष्टि उक्त चारों विशालकाय गोपुरोंपर पड़ती है और मीनाक्षी-मन्दिरके दर्शनके लिये उसकी लालसा प्रबल हो उठती है। वह 'अम्मन सन्निधि' नामक मुख्य द्वारसे मन्दिरमें प्रवेश करता है। यह द्वार पूर्व दिशामें स्थित है। मुख्य द्वारसे प्रविष्ट होनेपर सामने अष्टशक्ति-मण्डप दिखायी देता है। इसमें आठ शक्तियोंकी प्रतिमाएँ स्थापित हैं। इसकी छतपर कुछ चित्रोंमें मीनाक्षी देवीके जन्म, बचपन और युवावस्थाके चित्र अङ्कित हैं। इसके बाद मीनाक्षीमण्डप आता है, जो १७ वीं शताब्दीके शासक थिरुमल नायकके एक मन्त्री मीनाक्षी नायकद्वारा बनाया गया था। पहले यह मण्डप मन्दिरके हाथियोंके लिये प्रयुक्त होता था। आजकल इसमें फूलों तथा खिलौनोंका बाजार है। इसके बाहरके मार्गमें १००८ छोटे तेलके दीपक हैं जो नित्य जलाये जाते हैं। इसके बाद एक अन्धकार-मण्डप (Dark Mandapam) आता है, जिसे मुदालियर पिल्लई मण्डपम् कहते हैं। इसके स्तम्भोंपर अत्यन्त कौशलके साथ कुछ पौराणिक चित्र अङ्कित हैं। इस मण्डपसे गुजरनेपर एक स्वर्णकमल सरोवर आता है। इसकी चारों ओरकी दीवारोंका धार्मिक तथा कलात्मक दृष्टिसे विशेष महत्त्व है। उत्तरी एवं दक्षिणी दीवारोंपर भगवान् शिवकी ६४ चमत्कारपूर्ण लीलामुद्राएँ अङ्कित हैं। पूर्वी दिशासे दो स्वर्णिम गोपुर दिखायी पड़ते हैं। दक्षिणी दीवारके सफेद संगमर्मरपर प्रसिद्ध संत थिरुवल्लुवारका चित्र है। पश्चिम दिशामें रानी मंगम्मल-द्वारा निर्मित एक छज्जा है। इसपर रानी मंगम्मलकी आकृति एवं रामायणसे सम्बन्धित कुछ चित्र अङ्कित हैं। इन चारों दिशाओंके मध्य एक सरोवर है, जिसके साथ अनेक कथाएँ एवं जनश्रुतियाँ सम्बद्ध हैं। कहते हैं इन्द्रने एक बार अपने पाप दूर करनेके लिये इस सरोवरमें स्नान किया था और इसमें उगे स्वर्णिम पुष्पोंके साथ भगवान् सुन्दरेश्वर (शिवजी) की पूजा की थी। यह भी कहा जाता है कि एक बार भगवान् शिवने वर दिया था कि इस सरोवरका जल कभी मछलीसे दूषित नहीं होगा और तबसे यह सरोवर सदैव मछलियोंसे रहित रहा है। आज भी इसमें स्नान बहुत पुण्यकारी माना जाता है।

सरोवरसे निकलकर एक किलिकट्टु मण्डपके दर्शन होते हैं, जिसमें तोतोंको पिंजड़ेमें रक्खा जाता है। तोता पवित्र पक्षी माना जाता है और यह अनेक देवी-देवताओंके साथ रहा है। मीनाक्षी देवीका इसके प्रति विशेष आकर्षण था। इस मण्डपमें पाँच पाण्डवों एवं द्रौपदीकी प्रतिमाएँ भी हैं। इस मण्डपके उत्तरी द्वारसे सुन्दरेश्वर अर्थात् शिवलिङ्गकी ओर जानेका मार्ग है। पश्चिमी द्वारसे मीनाक्षी देवीकी प्रतिमाको मार्ग जाता है। इस मार्गपर दो पहरेदार नियुक्त रहते हैं। प्रतिमा तकके मार्गमें अनेक महत्त्वपूर्ण कलाकृतियाँ हैं, जो पर्यटकका ध्यान बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लेती हैं। दीवारोंपर भारतीय नाट्यशास्त्रमें वर्णित नृत्यकी कुछ मुद्राएँ भी अङ्कित हैं।

तदनन्तर मीनाक्षीकी प्रतिमा आती है, जो तीन मण्डपोंसे घिरी है। अर्धमण्डपसे मीनाक्षीकी प्रतिमाके स्पष्ट दर्शन होते हैं। मीनाक्षीका अर्थ है—मीन (मछली)-जैसे नयनोंवाली। मीनाक्षी देवीकी प्रतिमाके नेत्रोंमें भी आश्चर्य-जनक आकर्षण और सजीवता है, जिसके कारण पर्यटक टकटकी लगाकर देखता रह जाता है।

मीनाक्षीकी महत्ताका एक और पक्ष भी है। यह द्राविड़ और आर्य सभ्यताके समन्वयकी प्रतीक है। भारतमें पुरातन-

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

कालसे न जाने कितने झुंड, कितने किबीले और कितनी जातियाँ आयीं; किंतु वे सब जलके अगणित सोतों, स्रोतोंऔर सरिताओं-सी विस्तीर्ण और गम्भीर समुद्ररूपी इस महान् देशमें समा गयीं। इस महान् देशकी महान् संस्कृतिने आक्रमणकारियों-तकको पचा लिया। भारतीय संस्कृति अनादिकालसे युद्धके स्थानपर अहिंसाका और वैरके स्थानपर प्रीतिका पाठ पढ़ाती रही है और इसीलिये यह समन्वयकी प्रतीक बन गयी है। भारतीय संस्कृतिकी यह समन्वयात्मक प्रवृत्ति इस मन्दिरके पाषाणोंसे, उनकी कलाकृतियों और मूर्तियोंसे मुखरित हुई है। मन्दिरके साथ द्राविड़ और आर्य दोनों परम्पराएँ जुड़ी हैं और मन्दिरकी निर्माणकला दक्षिणमें द्रविड सभ्यताके विकासका सुन्दर चित्र प्रस्तुत करती है। इन दोनों संस्कृतियोंके सहअस्तित्वका इतना सजीव उदाहरण भारतमें शायद ही दूसरा हो।

भारतवर्षके कोणार्क, जगदीशपुरी और खजुराहो आदिके मन्दिरोंके सदृश इस मन्दिरके, विशेषकर दीर्घाकार सहस्र-स्तम्भवाले मण्डपमें भी कुछ अश्लील मूर्तियाँ हैं, जिन्हें यहाँके लोग 'मिथुन' प्रतिमाएँ कहते हैं। देवस्थानोंमें इस प्रकारकी प्रतिमाओंका होना हमारी दृष्टिसे एक दोष ही है। अबतक इस सम्बन्धमें कोई ऐसी बात नहीं कही गयी है, जिससे इन प्रतिमाओंकी ऐसे स्थलोंपर आवश्यकता और इनका औचित्य प्रतिपादित किया जा सके।

मन्दिरमें कुछ भग्न मूर्तियाँ भी हमें देखनेको मिलीं। मूर्तियोंके अङ्ग-भङ्गके साथ कुछ अन्य कलाकृतियोंको भी खण्डित रूपमें हमने देखा। कलाकी सुरक्षाकी दृष्टिसे इनकी मरम्मत और पुनर्निर्माण नितान्त आवश्यक हैं। इस सम्बन्धमें मरम्मतके लिये निधि-संग्रहके हेतु मन्दिरमें कुछ सूचना-पट भी हमने देखे, जिनमें पर्यटकों, दर्शकोंसे द्रव्य-सहायताकी प्रार्थना करते हुए बीस लाख रुपयेकी आवश्यकता बतायी गयी है। इस सम्बन्धमें शासनको अविलम्ब कदम उठाना चाहिये और एक निश्चित अनुदान प्रतिवर्ष देकर मन्दिरके गौरव और उसकी सांस्कृतिक एवं कलात्मक निधिकी सुरक्षाके दायित्वको निभाना चाहिये।

इस प्रकार मीनाक्षी-मन्दिर दक्षिण भारतका एक ऐतिहासिक एवं प्रतिनिधि मन्दिर तो है ही, इसका सबसे बड़ा आकर्षण वस्तुतः इसकी कलात्मक भव्यता ही है। इतना विशाल, इतना भव्य और इतना कलात्मक मन्दिर, जिसे देखते ही दाँतों तले अँगुली आ जाती है, भारतीय मन्दिर-कलाका एक ऐसा उदाहरण है, जिसमें न केवल भारतीय शिल्पकला अपितु सब कुछ भारतीय संस्कृति, भारतीय कला और भारतीय साहित्य पूरी तरह प्रतिबिम्बित हुआ है। इसके गोपुर, इसके स्तम्भ, इसके विभिन्न मण्डप, उनकी विशालता, उनकी कारीगरी, उस कारीगरीमें विशेषतः मूर्तियाँ मनुष्यको चकित कर देती हैं। जिस समय क्रेन आदिके सदृश यन्त्रोंका आविष्कार नहीं हुआ था, उस समय ऐसा मन्दिर कैसे निर्मित किया गया, यह कम कौतूहल और आश्चर्यकी बात नहीं। कोई देशी पर्यटक हो या विदेशी, आस्तिक हो अथवा नास्तिक, मीनाक्षी-मन्दिरका कला-कौशल उसके हृदयपर एक अमिट छाप छोड़ देता है। यही नहीं, मानवकी इस कृतिका कौतूहल हर विचारशील व्यक्ति-को यह विचार करनेके लिये बाध्य करता है कि किन प्रेरणाओं और प्रयत्नोंका महाप्रसाद मीनाक्षीदेवीका यह महामन्दिर अतीतकालमें निर्मित होकर आज भी हमें किस प्रेरणा और प्रयत्नकी ओर इङ्गित कर रहा है। मानवके अदम्य साहस, उसके शौर्य, उसकी संस्कृति, उसकी निष्ठा और उसके देव और देशभक्तिके प्रतीक इस मीनाक्षी-मन्दिर-का निरीक्षण करते समय सहसा हमें आगराके ताजमहल, जो विश्वकी सात आश्चर्यजनक और अनुपम कृतियोंमेंसे एक है, का ध्यान आये विना नहीं रहता। ताजमहल कलाकी दृष्टिसे एक अनुपम कृति है। इतना ही नहीं, वह एकपत्नी-परायण पतिकी अथवा एक ऐसे सहृदय पतिके पत्नी-प्रेमकी निशानी भी है जो अपने प्रेमको अमरत्व प्रदान करनेके लिये ताजमहल-जैसी एक ऐसी यादगार बनाता है, जिसमें दुनियाँ ताजमहलके रूपमें मुमताज महलके पति शाहजहाँका दिल और उस दिलमें मुमताजका दहकता प्रेम भी देख सके। यह सब होनेके बावजूद इस कृतिमें एक वासना है, जिससे हम इनकार नहीं कर सकते। दो प्रेमियोंकी यादगारके अतिरिक्त ताजमहल हमें कोई ठोस प्रेरणा देता हो, ऐसा हम नहीं मानते। प्रेमियोंकी गाथाओं, उनकी कहानियों और कथाओंके रूपमें तो न केवल शाहजहाँ और मुमताज महलका प्रेम हमारे सामने है, वरं इससे भी कहीं अधिक व्यापक रूपमें हम शीरीं-फरियाद, लैला-मजनूँ आदिके नाम और उनकी कथाएँ लोगोंकी जबानपर सुनते हैं। किंतु आदर्शकी दृष्टिसे ऐसा प्रेम, जो आसक्तिके आवरणमें केन्द्रित हो अमर्यादित रूपसे समाज और देशके सामने वासनाके उग्र रूपमें ही प्रकट होता है, हमारा आदर्श नहीं हो सकता। आदर्श प्रेमकी दृष्टिसे जो स्वयंको बलिदान करके अपने प्रेमीको जीवित रखे, वही प्रेम और ऐसा ही प्रेमी हमारा आदर्श हो सकता है। इस दृष्टिसे नारी पात्रोंमें सीता-सावित्री एक ओर हमारे आदर्श हैं तो पुरुष पात्रोंमें राम हमारे आदर्श

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

हैं, जिन्होंने कष्ट सहनकर सामाजिक मर्यादाओं और नैतिक दायित्वोंका निर्वाह करते हुए कठोर कष्ट उठाकर एक ओर अपने प्रेम-व्रतका रक्षण किया तो दूसरी ओर जीवनके लक्ष्योंको भी पूरा किया। इन सभी दृष्टियोंसे जब हम वासनाके वितानसे मुक्त हो प्रेमके शुद्ध, सात्त्विक स्वरूप-की ओर देखते हैं, तब हमारे मनमें हमारी संस्कृतिका प्रधान गुण—परमानन्दका बोध करनेवाला, शुद्ध चित्त बुद्धिवाला प्रेम आप-से-आप पनप उठता है। यही प्रेम जिसमें वासनाका कालुष्य नहीं, अपितु जो परार्थ और पुरुषार्थका प्रतीक है, युग-युगोंसे हमारा आदर्श भी रहा है। इस आदर्शके प्रसार-प्रचारके लिये ही हमारे पूर्वजोंने ताजमहलके सदृश जन-शून्य नहीं, अपितु जनरवसे भरे, जनमानसकी भावभक्तिके जीते जागते ये देवमन्दिर देशके कोने-कोनेमें प्रतिष्ठित किये, जिनका हेतु किसी प्रेम-प्रकरणकी कोई नाममात्रकी प्रेरणा और प्रसङ्ग न होकर देशकी संस्कृति, उसका शौर्य, उसका साहित्य, उसका इतिहास, उसकी कला, उसका अध्यात्म और उसके अधिभूतके आधारभूत सभी प्रमाण हों। फिर ऐसे अधिष्ठानोंमें ही न केवल युग-युगोंसे वरं आज भी हम भारत और उसकी सार्वभौमिक एकता और अखण्डताके दर्शन कर रहे हैं। यह हमारे लिये इन देवमन्दिरोंकी एक ऐसी देन है, जिसपर हमारा सारा भविष्य निर्भर है।

निरे आश्चर्य ही नहीं, वास्तविकताकी दृष्टिसे भी आस्तिक और नास्तिक—सभीके सामने मदुराका मीनाक्षी देवीका मन्दिर आगराके ताजमहलसे कहीं अधिक प्रभावी, प्रेरणादायी और पावन कृतिके रूपमें भारत और भारतीयताकी, उसकी संस्कृति और सार्वभौमिकताकी एक ऐसी निशानी है, जिसपर न केवल भारतीय जन ही गर्व करते हैं, वरं विदेशी आगन्तुक भी आश्चर्यचकित हो इसे स्वीकार करते हैं। मन्दिरके गगनचुम्बी गोपुरों, स्वर्णमण्डित विशाल गरुडस्तम्भ, आकर्षक प्रतिमाओं और वास्तुकलाकी भव्यता, जो भारतके अतीतके गौरवमय पक्ष-की एक उज्ज्वल निशानी है, को देखकर हर पर्यटक, चाहे वह भारतीय हो अथवा विदेशी, इसी निष्कर्षपर पहुँचनेको बाध्य होगा कि संसारका सातवाँ आश्चर्य ताजमहल नहीं, मदुराका मीनाक्षी देवीका मन्दिर है। (क्रमशः)

धर्म और विश्वशान्ति

(लेखक—श्रीबिरधीलालजी सेठी)

संसारमें आज सर्वत्र संघर्ष और अशान्ति व्याप्त है। सुख-सामग्री कम है, परंतु भोगनेकी इच्छा रखनेवाले अधिक हैं; और तृष्णा तो और भी अधिक है तथा यही इस अशान्तिका एक मुख्य कारण है। यदि मनुष्योंकी भौतिक सुख-साधन बढ़ानेकी इच्छा यहींतक सीमित रहती कि संसारमें जो भी सुख-साधन उपलब्ध हों, उन्हें सबके साथ एक कुटुम्बके समान बाँट-बाँटकर लेते रहें, तब तो यह अशान्ति पैदा ही नहीं होती; परंतु ऐसा है नहीं। अधिकांश मनुष्य अपने सुखको दूसरोंके सुखसे अधिक महत्त्व देते हैं। दूसरोंके सुखका उन्हें कुछ ध्यान भी रहता है तो उन थोड़े-से व्यक्तियोंका कि जिन्हें वे अपना समझते हैं। फिर उनकी तृष्णाका भी कोई अन्त नहीं है, वे अपने ही या अपने छोटेसे घेरेके व्यक्तियोंके ही सुख-साधन अधिक-से-अधिक बढ़ाना चाहते हैं, चाहे दूसरोंके हिस्सेमें कुछ भी न आये, दूसरोंको खानेको भी न मिले। संसारमें जो विषमता, संघर्ष और अशान्ति है, उसका कारण मनुष्यकी यह सीमित स्वार्थी वृत्ति ही है और इसी स्वार्थी वृत्तिपर अङ्कुश रखनेके लिये समाजमें एक ओर धर्म और दूसरी ओर राज्यसत्ता पैदा हुई। धर्मका उद्देश्य है मनुष्यमें कर्तव्य-भावना पैदा करना कि वह बिना किसीके दबावके स्वयं ही इस प्रकार जीवन-यापन करे कि जिससे वह स्वयं सुखी रहे और दूसरोंके सुखमें भी बाधक न बने, प्रत्युत अपने सुखके साथ दूसरोंके सुखका भी वर्धन करे। इस प्रकारकी कर्तव्यभावना पैदा करनेवाली विचारधारा समाजके लिये आवश्यक है—चाहे हम उसे धर्म कहें, अध्यात्मवाद कहें या कुछ और। परंतु कितना भी कर्तव्य सिखाया जाय, बिना किसी भयके सब व्यक्ति अपने-आप अपनी-अपनी शक्ति और योग्यतानुसार काम करते रहें और अपने स्वार्थको इतना ही सीमित रक्खें कि जो उत्पादन हो, उसे एक कुटुम्बकी तरह बाँट-बाँटकर उपयोग कर लें, ऐसा सम्भव नहीं हो पा रहा है और न भविष्यमें ही इसकी सम्भावना है। इसलिये राज्यसत्ताकी भी आवश्यकता हुई, ताकि वह ऐसे स्वार्थी व्यक्तियोंपर अङ्कुश रख सके। इस प्रकार धर्म और राज्यसत्ता दोनों ही समाजके लिये आवश्यक हैं और उनमें भी धर्मकी प्रथम आवश्यकता है; क्योंकि जहाँ व्यक्ति समाज या राज्यसत्ताके भयसे किसी प्रकारका आचरण करता है, न कि कर्तव्य-भावनासे, वहाँ वह अपने आपको दुखी अनुभव करता रहता है और अपनी तृष्णाको पूरा करनेके लिये चोरी-छिपे समाजहित-विरोधी आचरण करनेके अवसर ढूँढ़ता रहता है। अतः

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

जबतक समाजके अधिकांश व्यक्ति इस प्रकारकी कर्तव्य-भावनावाले नहीं होंगे, तबतक समाजमें सुख-शान्ति नहीं रह सकेगी तथा जबतक राज्यसत्ता निःस्वार्थ और समष्टिगत कर्तव्यभावनावाले व्यक्तियोंके हाथोंमें नहीं जायगी, तबतक प्रभाववाले व्यक्ति अपने सीमित स्वार्थोंकी पूर्तिके लिये राष्ट्र, जाति, सम्प्रदाय, प्रान्त, भाषा, व्यवसाय आदिके नामपर लोगोंको गुमराह करके और विरोधी स्वार्थोंवाले गुट बनाकर अशान्ति पैदा करते रहेंगे। बहुमत-वाला वर्ग राज्यसत्तापर अधिकार करके अल्पमतवाले वर्गोंका शोषक बन जायगा और यही कारण है कि राज्यसत्ता भी अपने उद्देश्यको पूरा नहीं कर पा रही है। जहाँ-जहाँ भी अशान्ति और संघर्ष है, उसका यही कारण है।

अब यदि संसारके मुख्य धर्मोंपर दृष्टि डालें और उनके प्रवर्तकों एवं आर्ष ग्रन्थोंके उपदेशोंका विश्लेषण करें तो प्रतीत होगा कि उन सबने धर्मकी अभिव्यक्ति सदाचारमें मानी है, किसी क्रियाकाण्डमें नहीं और सदाचारके मुख्य तत्त्व हैं—

(१) मनुष्य मात्रके प्रति भ्रातृभावका व्यवहार—

धर्म कहता है कि मनुष्य मात्रको अपना कुटुम्ब मानो। इसके बिना संसारकी अशान्ति दूर नहीं हो सकती। भारतीय धर्मोंने तो चराचर समस्त जीव-जन्तु अर्थात् प्राणिमात्रको इस घेरेमें शामिल किया है। इसीको निषेधात्मक दृष्टिकोणसे 'अहिंसा' कहा गया है।

(२) संयम और अपरिग्रह

धर्म कहता है कि यदि सुखी रहना चाहते हो तो अपने जीवन-निर्वाहके लिये कम-से-कम आवश्यकताएँ रखो, सादा जीवन रखो और भोगोपभोगकी वस्तुओं और धनका संग्रह मत करो। इसके बिना मनुष्यमात्रमें भाई-चारेका व्यवहार कार्यान्वित नहीं हो सकता। जबतक संयमकी भावनाद्वारा भोगोंकी तृष्णाको और संग्रहकी वृत्तिको नियन्त्रित नहीं करोगे, तबतक कामोप-भोगकी वस्तुओंका उत्पादन कितना भी बढ़ा दिया जाय, वह सब मनुष्योंको सम्मिलित तृष्णाकी कुछ अंशोंमें भी पूर्ति नहीं कर सकेगा। परिणामस्वरूप समाजमें अशान्ति रहेगी और वर्ग-संघर्ष बना रहेगा।

उपर्युक्त विवेचनसे प्रकट है कि संसारसे विषमता और अशान्ति दूर करनेके लिये सबके प्रति भ्रातृ-भावका व्यवहार और संयमी तथा अल्प-परिग्रही जीवन आवश्यक है। और धर्मका उद्देश्य है मनुष्यमें बिना किसीके भय या दबावके इस प्रकारका जीवन व्यतीत करनेकी कर्तव्य-भावना पैदा करना। परंतु मनुष्य इस प्रकारकी कर्तव्य-भावनामें दृढ़ रहे, इसके लिये अधिकांश धर्मोंने एक दार्शनिक (तात्त्विक) आधार (विश्वास) की भी आवश्यकता समझी कि जिसे आध्यात्मिकता कहा जाता है; क्योंकि आज भी हम देखते हैं कि ऐसे विश्वासके अभावमें या उसपर ध्यान न रहनेपर मनुष्य समष्टिगत भावनाको छोड़कर अपने सीमित स्वार्थकी ओर झुक जाता है तथा अल्पकालीन सुखको महत्त्व देने लग जाता है। आज संयुक्त राष्ट्रसंघ संसारमें शान्ति बनाये रखनेमें क्यों असफल हो रहा है? एक ही मार्क्सवादी विचार-धारावाले होते हुए भी चीन और रूस क्यों एक दूसरेके शत्रु बन गये हैं? प्रत्येक देशके अंदर भी क्यों अशान्ति है? इसका कारण यही है कि मनुष्य यह समझे हुए है कि जितनी अधिक और अच्छी कामोपभोगकी वस्तुओंका उपयोग करूँगा, उतना ही अधिक सुखी होऊँगा और इसके लिये वह अधिक-से-अधिक धन संग्रह करना चाहता है एवं सत्ता प्राप्त करना चाहता है। जिनके हाथमें सत्ता है या संगठनकी शक्ति है, वे कानूनद्वारा या आन्दोलन और हड़तालोंद्वारा अपने और अपने पोषकोंके वेतन या आय बढ़वा लेते हैं और जिनके हाथमें शक्ति नहीं है वे (कर्तव्य-भावनावाले व्यक्तियों-को छोड़कर) चोरी, ब्लैकमार्केट, रिश्वत आदिके तरीके अपनाते हैं। अमेरिका आदि देशोंमें भी कि जहाँ कामोपभोग-की वस्तुओंका उत्पादन प्रचुर मात्रामें है, धन भी बहुत है, भौतिक वस्तुओंसे सुख प्राप्त करनेकी लोगोंकी तृष्णाका अन्त न होनेसे अशान्ति है। वहाँ भी डाकाजनी, चोरी, रिश्वत, टैक्सचोरी आदि अपराध प्रचुर मात्रामें होते रहते हैं। कुछ समय पूर्व संयुक्तराष्ट्र अमेरिकाके जाँचके संघीय कार्या-लयके संचालक श्री जे० एडगर हूवरने अपनी रिपोर्टमें कहा था कि वहाँ जिस तेजीसे जनसंख्या बढ़ रही है, उससे चौगुनी गतिसे अपराध बढ़ रहे हैं। इससे प्रकट होता है कि मनुष्य सबके सुखमें सुख समझनेका, देशसेवाका, समाजसेवा-का दिखावा करता है; परंतु वास्तवमें उसके हृदयमें सीमित स्वार्थ है, अपने सब कार्योंका मूल्याङ्कन वह अपने वर्तमान शरीरके सुख-दुःखकी दृष्टिसे करता है और सीमित स्वार्थकी भावनाको निकालकर समष्टिगत कर्तव्यकी भावना तथा सुखके सार्वत्रिक एवं सार्वकालिक दृष्टिकोणको स्थायित्व देनेके लिये उसके हृदयमें आध्यात्मिकताका दार्शनिक आधार नहीं है।

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

धर्म कहता है कि पहले तुम अपने आपको जानो (Know thyself)—यह समझो कि तुम्हारा 'मैं' इस हाड़-मांसके नश्वर शरीरसे भिन्न एक अविनाशी और शाश्वत तत्त्व है, जो तुम्हारे इस शरीरके नष्ट हो जानेके बाद किसी भी देशमें, किसी भी प्रान्तमें, किसी भी कुलमें और किसी भी योनिमें जन्म धारण कर सकता है। अतः अपने इस वर्तमान शरीरकी दृष्टिसे ही नहीं, प्रत्युत अपने 'मैं' की सार्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टिसे सबको अपना कुटुम्बी मानकर सबके सुखमें अपना सुख मानो और ऐसा कोई कार्य न करो, जो विश्वहितका विरोधी हो। धर्म यह भी कहता है कि सुखके तत्त्वको समझो, तभी सुखी हो सकोगे। सुख तुम्हारे 'मैं'के अधीन है, पराश्रित नहीं है, कहीं बाहरसे नहीं आता। उसे इन्द्रियोंके विषयभोगोंद्वारा प्राप्त करनेका प्रयत्न मत करो; क्योंकि ऐसा सुख क्षणिक और परिणाममें दुःखदायी होता है। शरीरको और अपने 'मैं'को एक मानकर शरीरकी प्राकृतिक आवश्यकताओंसे अधिक भौतिक सुख-साधन उसे उपलब्ध करानेकी तृष्णा ही तुम्हारे इस दुःखका तथा संसारमें व्याप्त इस संघर्ष और अशान्तिका एक मुख्य कारण है; अतः संयमसे रहो और अति संग्रह मत करो। यहाँ यह भी बताना उचित है कि धर्मने ही नहीं, आचार-शास्त्रके आधुनिक महान् विद्वान् कान्टने भी इस प्रकारके दार्शनिक विश्वासको नैतिकताकी आधारभूत शिला माना है।

सार यह है कि संसारसे विषमता और अशान्ति मिटानेके लिये धर्म आवश्यक है, चाहे हम उसे आध्यात्मिकता कहें या कुछ और। धर्मकी अभिव्यक्ति है सदाचार अर्थात् प्राणिमात्रके प्रति समभाव, अहिंसा, संयमी जीवन तथा संग्रह-वृत्तिके निरोध आदिमें। इसके लिये न किसी आडम्बरकी आवश्यकता है, न किसी बाहरी क्रियाकाण्डकी और न इसके लिये पैसा खर्च करनेकी। किंतु यह भी सही है कि धर्म-प्रवर्तकोंका सदाचार (नैतिकता)-सम्बन्धी मूल उपदेश ऊपर लिखे अनुसार एक-सा होते हुए भी उसमें आडम्बर प्रधानरूपसे आ गया, जिससे विभिन्न धर्मोंमें प्रेम नहीं रहा। यह भी सत्य है कि धर्मके नामपर अनैतिकता और अत्याचार हुए। खूनकी नदियाँ बहायी गयीं। इसका एक मुख्य कारण यह है कि स्वार्थी और अविवेकी लोगोंने साधु या धर्मगुरुका भेष धारणकर लोगोंको आडम्बरकी भूलभुलैयामें फँसाकर वास्तविक धर्मके सम्बन्धमें इतना गुमराह कर दिया कि वे धन कमाने और भौतिक सुख-साधन बढ़ानेकी अति तृष्णा रखते हुए और हिंसा तथा शोषणद्वारा धन कमाते हुए भी धर्मके नामपर विभिन्न प्रकारसे धन खर्च करके ही अपने आपको धार्मिक समझने लगे। परंतु क्या इस कारण मनुष्य उस धर्मको जिसका उद्देश्य राष्ट्र, जाति, भाषा आदिके भेदभावके बिना सबके प्रति भ्रातृभाव रखने और सदाचारी जीवन व्यतीत करनेकी कर्तव्य-भावना जाग्रत् करनेका हो और जिसके प्रवर्तकोंका जीवन एवं उपदेश आज भी हमें असत्यसे सत्यकी ओर बढ़नेके लिये प्रेरणा देता है, समाप्त कर दें? क्या नृशंसतापूर्ण अत्याचार साम्यवादके नामपर नहीं हुए? क्या विभिन्न देशोंमें देश एवं राज्यके नामपर सत्ताधीशोंद्वारा समय-समयपर होनेवाले अत्याचार एवं शोषणकी तुलनामें धर्मसंस्थाओंके द्वारा हुई हानि नगण्य नहीं है? अस्तु, अबतक राज्यसत्ताकी कोई भी प्रणाली मनुष्यकी स्वार्थी वृत्तिपर अङ्कुश नहीं रख सकी, इस कारण यदि राज्यसत्ताको ही समाप्त कर दिया जाय तो क्या परिणाम होगा? और भी अधिक उच्छृङ्खलता और विनाश। ठीक यही बात धर्मके लिये भी लागू होती है; क्योंकि धर्मकी भावनाको मनुष्यमेंसे समाप्त करनेका परिणाम होगा मनुष्यको और भी अधिक निरङ्कुश और चरित्रहीन बना देना। आवश्यकता तो इस बातकी है कि धर्मके सम्बन्धमें लोगोंका विवेक जाग्रत् किया जाय और स्वार्थी तथा अविवेकी लोग धर्मके नामपर जो ढोंग और आडम्बर फैलाकर लोगोंको गुमराह करते हैं, उसके विरुद्ध प्रचार करके, सर्वसाधारणको और नयी पीढ़ीके युवकोंको धर्मके मौलिक सिद्धान्त हृदयंगम कराकर सदाचारी जीवन व्यतीत करनेकी प्रेरणा दी जाय। यह कार्य धार्मिक लोगोंद्वारा तो किया जाना उचित है ही; परंतु वह प्रभावशाली तभी होगा जब राज्यसत्ता भी सर्वधर्मसमभावी और समन्वयात्मक मानव-धर्मपर दृष्टि रखते हुए इसे अपना उद्देश्य बनाकर कार्यान्वित करेगी और सत्तारूढ़ पुरुष अपने नैतिक, संयमी और अल्पपरिग्रही जीवनद्वारा सबका मार्गदर्शन करेंगे। इसके बिना लोकतान्त्रिक प्रणाली अपने उद्देश्यको कभी पूरा नहीं कर सकेगी।

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

प्राचीन भारतकी लोकतान्त्रिक व्यवस्था

(लेखक—श्रीगोवर्धनलालजी पुरोहित, एम्० ए०)

प्राचीन भारतने आध्यात्मिक, साहित्यिक एवं दार्शनिक विषयोंमें तो प्रगति की ही थी, उसने राजनीतिक क्षेत्रमें भी आशातीत प्रगति कर ली थी । कौटल्यके अर्थशास्त्रके प्रकाशनके बाद संसारके विचारशील एवं मनस्वी सज्जनोंने मान लिया कि प्राचीन भारतमें जनमतका बड़ा आदर था। अनेक भारतीय विद्वानोंने भी प्राचीन भारतके राजनीतिक विकासपर अनेक अन्वेषणात्मक ग्रन्थ लिखे । इनमें सुप्रसिद्ध इतिहास-लेखक श्रीकाशीप्रसाद जायसवाल, श्रीघोषाल महोदय, श्रीविनयकुमार सरकार, श्रीप्रेमनाथ बनर्जी, श्रीनगेन्द्रनाथ गुप्त आदि उल्लेखनीय हैं । इन सभीने यह सिद्ध किया है कि प्राचीन भारतने उस समयकी परिस्थितिके अनुसार जनतन्त्रके क्षेत्रमें बड़ी प्रगति कर ली थी । सुप्रसिद्ध इतिहास-कार श्रीकाशीप्रसाद जायसवालने खोजपूर्ण ग्रन्थ 'हिंदू-पॉलिटी'में यह दर्शाया है कि कौटल्यके अर्थशास्त्रके पहले भी अनेक ग्रन्थोंमें भारतीय जानतान्त्रिक विकासका समुचित वर्णन है ।

वेदोंके गम्भीर अध्ययनसे यह विदित होता है कि वैदिक युगके प्रारम्भमें चुने हुए राजाओंद्वारा शासन चलाया जाता था और इसके बाद तो शुद्ध रूपसे चुनी हुई प्रतिनिधि सरकार गणराज्यके रूपमें शासन करती थी । सुप्रसिद्ध प्रवासी इतिहास-लेखक—'मेगास्थनीज' ने भी इसे स्वीकार किया है । प्रजातन्त्र-शासनके प्रमाण परवर्ती वैदिक साहित्य, ऋग्वेदके ब्राह्मणभाग तथा यजुर्वेद और अन्य ग्रन्थोंमें मिलते हैं । जातक-कथाओंमें भी अनेक स्थानोंपर गण-राज्योंका वर्णन किया गया है। जैन-साहित्यमें भी गणराज्यका वर्णन है। सुप्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनिने अपने विख्यात ग्रन्थ अष्टाध्यायीमें हिंदू प्रजातन्त्रोंका महत्त्वपूर्ण वर्णन किया है । इन सबके आधारपर यह निर्विवाद रूपसे कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतमें लौकतान्त्रिक व्यवस्था प्रचुर मात्रामें थी ।

वैदिक कालकी जनतन्त्रीय संस्थाएँ

यूरोपके अनेक विद्वानोंने पर्याप्त अन्वेषणके बाद यह स्वीकार किया है कि ऋग्वेद संसारके उपलब्ध ग्रन्थोंमें सबसे प्राचीन है। लोकमान्य तिलकने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ओरायन'में ऋग्वेदको ईसासे आठ हजार वर्ष प्राचीन माना है। इन खोज-कर्ताओंने वेदोंके आधारपर सिद्ध किया है कि शासनकी नीति निर्धारण करनेमें जनताका बहुत बड़ा हाथ था। अविनाशचन्द्र दासने अपने ग्रन्थ 'Rigvedic culture' में 'सभा' और 'समिति' नामक दो राजनीतिक संस्थाओंपर प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं कि 'वैदिक आर्योंमें जनतन्त्रीय प्रवृत्तियाँ थीं। वे अपने दलगत (ट्राइबल) हितोंके लिये तत्पर रहते थे। सार्वजनिक तथा अपने ग्राम-सम्बन्धी शासन-कार्योंपर विचार करनेके लिये सभाओंमें एकत्रित होते थे और सम्बन्धित विषयोंपर खुले दिलसे विचार करते थे। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण गाँवमें एक स्थायी संस्था थी, जिसका नाम सभा था। (ऋग्वेद, अध्याय ६, पृ० २९६; अध्याय ८, पृ० ४) इस सभाका स्वतन्त्र भवन होता था, जिसमें ब्राह्मण तथा सम्माननीय सज्जन ग्रामशासनसम्बन्धी विषयों-पर विचार-विमर्श करते थे । ऋग्वेदमें एक-दो स्थानोंपर (१६७,३) ऐसा उल्लेख मिलता है कि स्त्रियाँ भी सभामें भाग लेती थीं। उपनिषत्कालमें तो इस प्रकारकी लोक-सभाओंमें स्त्रियोंके भाग लेनेके स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं।

कौटल्यके अर्थशास्त्रके आविष्कारक डा० शामशास्त्री अपने 'The Evolution of Indiat polity'में लिखते हैं—'इन सभाओंमें या परिषदोंकी सदस्यताके सम्बन्धमें यह दिखायी देता है कि इसमें जानेके लिये किसी भी प्रकारकी रोक-टोक नहीं थी। वृद्ध और युवक, शिक्षित और अशिक्षित—सभी इनमें स्वतन्त्रताके साथ सहयोग देते थे। इसमें कोरमका कोई सवाल नहीं था। सभाको पूर्णरूपसे अधिकारयुक्त बनानेके लिये प्रत्येक वयस्क ग्रामवासीका उपस्थित होना अनिवार्य था। कृष्णयजुर्वेद नामक ग्रन्थसे पता चलता है कि सभाएँ बहुत बड़े पैमानेपर होती थीं और किसीको भी अपने विचार रखनेसे रोका नहीं जाता था। इन सभाओंमें पुरोहित लोग शिक्षित लोगोंका और सामन्तगण कृषक तथा व्यापारी वर्गका प्रतिनिधित्व करते थे। इन सभाओंमें राजाओंके निर्वाचनके प्रश्न, उनको राज्यच्युत करने या सिंहासनपर पुनः अधिष्ठित करने आदि विषयोंपर खुली चर्चा होती थी। यह बात संदेहास्पद है कि राजा लोग इस सभामें उपस्थित होते थे या नहीं। यदि वे उपस्थित होते तो सभाध्यक्षके रूपमें उपस्थित होते थे। परंतु जब किसी राजाके चुनावके लिये लोकसभामें विचार होता था, तब वह राजा नियमानुसार उसमें उपस्थित नहीं होता था।'

ऋग्वेदमें 'सभा' एवं 'समिति' का उल्लेख कई स्थानोंपर आया है । सुप्रसिद्ध लेखक Hillevradat का कथन है कि ये दोनों संस्थाएँ

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

एक थीं। परंतु सुप्रसिद्ध जर्मन इतिहास-लेखक लुडविगने अपने ऋग्वेदके अनुवादमें यह दिखानेका प्रयत्न किया है कि 'समिति' एक विशुद्ध लोकसभा होती थी, जिसमें सब लोग सहयोग दे सकते थे। इसमें राजा, अमीर, उमराव भी शामिल हो सकते थे। झीमर महोदयका कथन है कि समितियोंमें राजाका चुनाव होता था। इनकी बैठकें बड़े नगरोंमें होती थीं। (ऋग्वेद, १०, १७३)

प्रजाद्वारा राजाका चुनाव

वैदिक कालमें राजाओंको प्रजाद्वारा चुने जानेके अनेक उदाहरण मिलते हैं। झीमर महोदयने 'Rigvedic India' में लिखा है—'राजा प्रजाद्वारा चुना जाता था। लोक या उनके प्रतिनिधि सभा या समितिमें एकत्रित होते थे।' (ऋग्वेद-मन्त्र १००–१३४। ८)

अविनाशचन्द्र दासने अपनी पुस्तक 'Rigvedic Culture' में बताया है कि 'राजाका चुनाव उसकी योग्यताके अनुसार होता था। उसे अपने पदकी रक्षाके लिये जनताकी सदिच्छापर रहना पड़ता था। राजाके शासनमें प्रसन्न रहनेपर ही प्रजा उसे कर देती थी। ज्यों ही शासनमें अन्याय-अत्याचार दिखायी देता, वह कर देना बंद कर देती थी। राजा जनताकी अवहेलना नहीं कर सकता था। जनताको अपने स्वत्व तथा अधिकारोंका पूरा ज्ञान था।' ऋग्वेदसे अथर्ववेदकी रचना उत्तरकालीन है। उसमें ऐसे अनेक मन्त्र हैं, जिनमें राजाके जनताद्वारा चुने जानेका स्पष्ट उल्लेख है। कुछ मन्त्र यहाँ दिये जाते हैं—

'इन्द्रेन्द्र मनुष्याः परेहि संह्यज्ञास्था वरुणैः संविदानः।
स त्वायमह्वत् स्वे सधस्थे स देवानयक्षत् स उ कल्पयाद् विशः॥
(३, ४, ६)

अर्थात् 'हे राजन्! आप जनताके सामने आइये, आप अपने निर्वाचन करनेवालेके अनुकूल हों। इस पुरुष (पुरोहित) ने आपको आपके योग्य 'स्थान' पर यह कहकर बुलाया है कि आप इस देशकी स्तुति होने दें और जाति (विशः) को भी सुमार्गपर चलने दें।' एक अन्य मन्त्रमें कहा गया है—

त्वां विशो वृणुतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवी।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि॥
अच्छा त्वा यन्तु हविनः सजाता अग्निर्दूतो अजिरः संचरातै।
जायाः पुत्राः सुमनसो भवन्तु बहुं बलिं प्रति पश्यामा उग्रः॥

अर्थात् 'हे राजन्! राज्य-कार्य चलानेके लिये प्रजा तुझे निर्वाचित करे। इन पाँचों प्रकाशयुक्त दिशाओंमें प्रजा तुझे निर्वाचित करे। राजाके श्रेष्ठ सिंहासनका आश्रय लेकर तू हमलोगोंमें उग्र होते हुए भी धनको बाँट दिया कर। तेरे अपने देशके निवासी ही तुझे बुलाते हुए तेरे पास आयें। तेरे पास चतुर तेजयुक्त एक देव हो। राष्ट्रमें जितनी भी स्त्रियाँ तथा उनके पुत्र हों, वे तेरी ओर मित्रभावसे देखें। तब ही तू उग्र होकर बहुबलि ग्रहण करेगा।' इस प्रकारके कितने ही मन्त्र अथर्ववेदमें भी आते हैं। इन मन्त्रोंसे यह विदित होता है कि राजा राष्ट्र-पतिके रूपमें काम करता था। अपनी योग्यतासे ही वह यह पद प्राप्त करता था। पुरोहितद्वारा राजाको अपने कर्तव्यपालनके लिये शपथ दिलायी जाती थी। वेदोंमें इसका वर्णन है। 'मैं नियमानुसार शासन करूँगा। यदि नहीं करूँ तो तुम मुझे सभी प्रकारके दण्ड दे सकते हो। तुम मुझे पदच्युत कर सकते हो। इतना ही नहीं, मुझे बंदीगृहमें भी रख सकते हो।'

राजाके लिये दण्ड-विधि

प्रतिज्ञाका पालन न करनेपर शुक्राचार्यके शब्दोंमें उसे निम्नलिखित ढंगसे दण्ड दिया जाता था—

गुणनीतिबलद्वेषी कुलभूतोऽप्यधार्मिकः।
नृपो यदि भवेत् तं तु त्यजेद्राष्ट्रविनाशकम्॥
तत्पदे तस्य कुलजं गुणयुक्तं पुरोहितः।
प्रकृत्यनुमतं कृत्वा स्थापयेद्राज्यगुप्तये॥

अर्थात् 'जो राजा गुण, नीति और सेनाका शत्रु हो गया है, जो राजवंशका होकर भी अधार्मिक हो गया हो, उस राष्ट्र-विनाशकको राज्यसे हटा देना चाहिये। उसके स्थानपर राजपुरोहित राज-कर्मचारियोंका मत लेकर उसके कुलमें उत्पन्न हुए किंतु गुणयुक्त उसके सम्बन्धीको अधिष्ठित करे।' मनुस्मृतिमें भी ऐसा ही कहा गया है—

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया।
सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः॥

अर्थात् 'जो राजा मूर्खता अथवा मोहवश होकर अपनी प्रजाको सताता है, वह राज्यच्युत किया जाता है और बन्धुओंसहित मृत्युदण्डको प्राप्त होता है।' इस तरह राजाको दण्ड देनेके कितने ही विधि-विधान हमारे प्राचीन शास्त्रोंमें मिलते हैं। आधुनिक यूरोपीय देशोंके अधिपतियोंसे कई क्षेत्रोंमें हमारे

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

राजाओंके अधिकार अधिक मर्यादित थे । अपराध करनेपर साधारण व्यक्तिकी अपेक्षा उसको कठोर दण्ड देनेकी व्यवस्था थी—

कार्षापणं भवेद्दण्ड्यं सहस्रमिति धारणा ।
अष्टापद्यं तु शूद्रस्य स्तेयं भवति किल्बिषम् ॥

अर्थात् जिस अपराधमें साधारण मनुष्यपर एक पैसा दण्ड हो, उसी अपराधमें राजाको सहस्र पैसे दण्ड होने चाहिये । इन सबसे यह स्पष्ट विदित होता है कि जनताको राजाको चुनने, हटाने तथा दण्ड देनेका अधिकार था ।

रामायण-महाभारतमें जनमतका आदर

रामायणमें स्पष्ट लिखा है कि जब महाराजा दशरथने अपने ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको राजसिंहासन देना चाहा, तब उन्होंने इस कार्यके लिये अपनी प्रजासे अनुमति ली थी ।

जौ पाँचहि मत लागै नीका ।
करहु हरषि हियँ रामहि टीका ॥

वाल्मीकि-रामायणमें यह उल्लेख है कि राजा दशरथ अकेले राज्य नहीं करते थे, वरं विद्वान् तथा योग्य मन्त्रियोंकी सहायतासे राज्य करते थे । महाभारतमें राजा पृथुका प्रजाद्वारा चुने जानेका स्पष्ट उल्लेख है ।

प्राचीन भारतके गण-राज्य

गौतमबुद्धके समय भारतमें कितने ही गण-राज्य थे । स्वयं उनका निवासस्थान भी गणतन्त्रीय राज्य था । ये गण-राज्य पूर्वमें कोसल और कौशाम्बीसे लेकर पश्चिममें अङ्ग राज्यतक विस्तृत थे । अर्थात् इनका विस्तार गोरखपुर जिले और बलिया जिलेसे लेकर मगधके उत्तरमें हिमालयके दक्षिणतक फैला था । इतिहासवेत्ता श्रीकाशीप्रसाद जायसवालने इन गणतन्त्रोंका उल्लेख इस प्रकार किया है—

(१) शाक्योंका गण-राज्य

इसकी राजधानी गोरखपुर जिलेमें कपिलवस्तु नामक नगरमें थी । इसमें इसके सीमावर्ती राज्य भी शामिल थे ।

(२) कोलियोंका राम-ग्राम

(३) लिच्छिवियोंका राज्य

इसकी राजधानी वैसालीमें थी, जिसे आजकल बसाढ़ कहते हैं और जो मुजफ्फरपुर जिलेमें है ।

(४) विदेहोंका गण-राज्य

इसकी राजधानी मिथिला (जिला दरभंगा) में थी । ये दोनों अन्तिम मिलकर 'वृजी' अथवा 'वज्जी' कहलाते थे ।

(५) मल्लोंका राज्य

यह बहुत दूरतक फैला हुआ था । वह दक्षिणमें शाक्यों तथा वृजियोंके राज्यतक चला गया था अर्थात् आधुनिक गोरखपुर जिलेसे पटनेतक विस्तृत था । यह राज्य दो भागोंमें विभक्त था । इनमेंसे एकके राज्यकी राजधानी 'कुशीनगर' (कुसीनारा) तथा दूसरेकी राजधानी 'पावाँ' में थी । इस प्रकार बौद्ध युगमें अनेक गणराज्य थे ।

कौटल्यने अपने ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' में भी गण-राज्योंका परिचय दिया है । इसमें दस गण-राज्योंका उल्लेख है—(१) लिच्छिविक, (२) वृजिक, (३) मल्लक, (४) कुकुर, (५) कुरु, (६) पाञ्चाल, (७) काम्भोज, (८) सुराद्रि, (९) क्षत्रिय, (१०) श्रेणी । इनके अतिरिक्त उस समय क्षुद्रकों तथा मालवोंके भी प्रजातन्त्र राज्य थे, जिनका वर्णन कौटल्यके ग्रन्थमें नहीं है । यूनानी इतिहासकार मेगास्थनीजने भी अपने प्रवास-वर्णनमें कुछ प्रजातन्त्र राज्योंका उल्लेख किया है । वह लिखता है—'वे लोग जहाँ राजा होते हैं, वहाँ सब बातोंकी सूचना राजाको देते हैं और जहाँ स्वाधीन होते हैं, अथवा शासन आप करते हैं, वहाँ मजिस्ट्रेटों, स्थानीय अधिकारियोंको सूचना देते हैं ।' अन्य यूनानी इतिहासलेखक 'मैकक्रिंडल' अपने ग्रन्थ 'Invasion of India by Alexander' में लिखते हैं—'भारतवर्षके प्रत्येक गाँवको यूनानियोंने स्वतन्त्र प्रजातन्त्र समझा था ।' यूनानके एक अन्य लेखक एरियनने भी अपने ग्रन्थमें व्यासनदीतटके गणराज्योंका वर्णन किया है ।

कहनेका सारांश यह है कि भारतमें राजतन्त्रके साथ-साथ कई स्थानोंपर प्रजातन्त्र-प्रणालीसे शासन होता था । यह कहना अनुचित है कि प्राचीन भारतमें गणतन्त्र-प्रणालीका अभाव था और यह यूरोपकी देन है ।

भारतमें गणतन्त्रके विकासके सम्बन्धमें अब भी बहुत कुछ शोध करनी है । ऐसा हो जानेके बाद हमारा यह संदेह पूर्णतः समाप्त हो जायगा कि भारतमें गणतन्त्र केवल आधुनिक वस्तु है ।

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

श्रीगोपाङ्गनाओंका विशुद्ध प्रेम

[राष्ट्रीय कवि स्व० घासीराम व्यासका भक्ति-साहित्य]

(लेखक—श्रीरामचरणजी ह्यारण 'मित्र', साहित्यशिरोमणि)

बुंदेलखण्डको इतिहासवेत्ताओंने वीर और कवि-प्रसूतिभूमिकी मान्यता देकर सराहना की है। कवीन्द्र केशवदास, देव, बिहारी, पद्माकर, मतिराम प्रभृति व्रजभाषा-भक्ति-साहित्यके शीर्षण्य कवि इसी बुंदेल-वसुंधराकी देन हैं और यही शृङ्खला उस प्राचीन कालसे इस आधुनिक कालतक चली आ रही है।

स्वतन्त्रता-संग्रामके भीषण संघर्ष-कालमें भी यहाँके स्व० कवीन्द्र नाथूराम माहौर, स्व० आचार्य घनश्यामदास पाण्डेय, राष्ट्रीय कवि स्व० घासीराम व्यास प्रभृतिने जहाँ राष्ट्रको प्रबल चेतना प्रदान की है, वहाँ इन कवियोंने व्रज-भाषामें भक्ति-साहित्यका सृजन करके सरस्वतीके अपार भंडारको भी भरा है।

इस संदर्भमें हम यहाँ केवल व्यासजीके व्रजभाषामें निर्मित भक्ति-साहित्यपर ही किंचित् प्रकाश डालनेका प्रयत्न करेंगे। व्यासजीका जन्म वि० संवत् १९६० अनन्त-चतुर्दशीको सुखनई सरिताके तटपर बसी हुई मधुपुरी (मऊरानीपुर) के ब्राह्मण-कुलमें हुआ था और मृत्यु राष्ट्रीय आन्दोलनमें वि० संवत् १९९९ वैशाख शुक्ल प्रतिपदाको झाँसी डि० जेलसे मुक्त होनेपर।

व्यासजीके व्रजभाषा-भक्ति-साहित्यकी प्रशस्तिमें राष्ट्रकवि डा० श्रीमैथिलीशरण गुप्तने लिखा है कि 'रत्नाकर'जी-की वाणीमें विभुता है और 'व्यास'जीकी वाणीमें विनम्रता। एकमें बाँकपन दर्शनीय है, दूसरेमें भोलापन और सम्पादकाचार्य पं० बनारसीदास चतुर्वेदी तो व्यासजीके भक्ति-साहित्य-की सराहना करते हुए आत्मविभोर हो जाते हैं।

व्यासजीने खड़ी बोली और व्रजभाषामें १५ पुस्तकोंका सृजन किया। इन पुस्तकोंमें कुछ प्रकाशित हैं और कुछ अप्रकाशित रूपमें उपलब्ध हैं।

यहाँ हम उनके व्रजभाषा-काव्य 'श्याम-संदेश'के कुछ भावात्मक छन्द प्रस्तुत कर रहे हैं।

श्रीकृष्ण जब व्रजकी व्रजाङ्गनाओं, सखाओं और अपनी प्यारी गौओं, जिनसे उनको अत्यधिक हार्दिक स्नेह था, त्यागकर मथुरा चले आते हैं, तब वे उनके अनन्य प्रेमका स्मरण करके विह्वल हो उठते हैं—

व्रज तज आये जबहिं तें व्रजपति स्याम सुजान।
नेह-नीर नैनन भरें व्रजके करत बखान॥

जब-जब आवत सुरति गोठ-गौवन की,
गोपिन की, ग्वालन की, गोकुल-गलीन की।
कलित करीलन के कुंजन, कदंबन की,
कूलन, कछारन कलिंदजा कनीन की।
'व्यास' कहैं औचक अचक चकायाने चित्त,
चितवन स्याम दसा दीसत अधीन की।
छीन तन-बदन, मलीन द्युति दीन होत,
फनि मनि हीन की, ज्यों जल बिन मीन की।

राधिका-राधिका टेरैं, हँसैं, कबौं—
मौन रहैं, कबौं आँसू बहावैं।
'व्यास' कहैं इमि दीन दयालु की
ऊधव देखि दसा दुख पावैं।
बात करबौ चित चाहैं कछू,
पर बैन नहीं मुख तें कहि आवैं।
बुद्धि बिबेक बढावैं अयान-से
सोचैं, सुनैं, सकुचैं रहि जावैं।

श्रीश्यामसुन्दरकी यह दशा जब उनके प्रिय सखा उद्धव देखते हैं, तब वे चकित होकर अधीर हो पूछते हैं—

देखि दसा घनस्याम की ऊधव ग्यान-गँभीर।
होंहि अचित, चिंतित, चकित दुखित अमित मति-धीर॥

सादर सोच-सँकोच सौं पूँछहिं,
बात कहा, बिसरावत बान हो।
संसृति-मोह में मोहत मोहन,
मानस-मोद-मनोग्य महान हौ॥
'व्यास' अभीत हो, द्वंद्व-अतीत हो,
बिस्व-प्रतीत हो पुण्य-प्रमान हौ।
जानि कैं होत अजान कहा हरि!
ग्यान-सिरोमनि स्याम-सुजान हौ॥

ज्ञानी सखा उद्धवके इन गम्भीर वचनोंको श्रवणकर श्रीकृष्ण हर्षित होकर कहते हैं—

सुनि ऊधव के बैन ग्यान जुत हरि बोले मुसकाई।
सुचि सनेह-सागर अथाह की थाह कौन कछु पाई॥

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

सत्य सखा! तुम ग्यानी-गुनी, गुन
रावरे देखि सबै ही सिहावैं।
'ब्यास' कहैं, अति नीकी कही, हर
भाँतिन सौं हमहूँ यह चावैं॥
छूटै सनेह परबौ कहूँ क्यों! कोऊ
प्रेम करै, हम नेम भुलावैं।
कैसहूँ वे जो न ध्यावैं हमें, हिय-
सौं, तो उन्हें हमहूँ बिसरावैं॥

श्रीकृष्णके इन स्नेहभरे वचनोंको श्रवणकर ज्ञानी उद्धव अति विचारमग्न हो श्यामसुन्दरसे व्रज जानेकी इच्छा प्रकट करते हैं और आज्ञा प्राप्तकर अपना रथ सजाकर व्रज गमन करते हैं—

आयसु पाय, तुरत रथ सजि कैं मंगल मोद मनाये।
करि प्रनाम प्रभु कौं सनेह सौं, ब्रज की ओर सिधाये॥
लोचन लालसा तें उमहे कबौं—
देखौं धरा ब्रज की सुख-रासी।
सोचत जात चले मग ऊधव,
कैसे सुभाग भरे ब्रजवासी॥
कैसे करील के कुंज कदंब हैं,
कैसे कलिंदजा-कूल-सुपासी!
स्याम उपासी बने जिनके रहैं,
कैसीं वे गोपिका स्याम-उपासी।

इधर व्रजाङ्गनाएँ कलिन्दजाके कूलपर बैठी हुई श्यामसुन्दरके स्नेहमें विह्वल हो अतीतकी बातोंका स्मरण कर रही हैं—

कूल कलिंदजा के सुख-मूल वे,
फूल-सी चैत की चाँदनी रातैं।
कुंजन की मन-मोद-मयी
अभिराम बनी घनस्याम की घातैं॥
'ब्यास' न भूलत गोरस कौ रस,
जो रसना तें लह्यौ रस-नातें।
हाय हियौ दहिबे कौं रहीं,
कहिबे कौं रहीं वे सनेह की बातें॥

ऐसी मनःस्थितिमें अनायास गोपिकाओंको यह संदेश प्राप्त होता है कि एक रथ व्रजकी ओर आ रहा है। शायद श्रीकृष्णका हो? सब गोपिकाएँ चावसे आनन्दनिमग्न हो दौड़ पड़ती हैं—

बैठीं बिसूर कलिंदजा-तीरन,
गोप-कुमारी सनेह निभाए।
'ब्यास' कहैं इतने में कोऊ तहाँ
आन कहे कछु बैन सुहाए॥
चौंकीं सबै रथ दूरि तें देखि कैं,
दौरि परीं कहैं मोद मनाए।
औचक ही 'हरि आये हहा'
'हरि आये हहा' हियरे हरषाए॥

गोपिकाओंने अति उल्लसित हो रथको चारों ओरसे घेर लिया; परंतु उसमें श्याम नहीं, श्याम-सखा उद्धव थे। इसमें ही सबको हर्ष हुआ और वे श्रीकृष्णकी कुशल-क्षेम जाननेको आतुर हो उद्धवसे पूछती हुई आत्मविभोर हो गयीं और सबने श्याम-सखा-उद्धवका श्यामसुन्दरसे भी सौगुना स्वागत किया।

ज्ञानी उद्धवने कुशल-क्षेम कहते हुए जब गोपिकाओंसे अपनी योग-युक्तिकी बात श्रीकृष्णके संदेशरूपमें प्रकट की—

पूछ परसपर कुसल-छेम तब ऊधव हाल सुनायौ।
स्याम-सँदेसौ कह्यौ, सुनत गोपिन बिसवास न आयो॥

ऐसी मनःस्थितिमें गोपिकाएँ श्याम-सखा उद्धवसे स्नेह-पूर्ण व्यंग-वाणीमें उत्तर देती हैं—

हम जोग कुजोग कौ जानैं कहा,
रसना-रस-रास-रसालिनी हैं।
गुन-हीन गँवारिनी ग्वारिनी हैं,
पर प्रीति-प्रतीति की पालिनी हैं।
द्विज 'ब्यास' कहैं, तुम ऊधौ सुनौ,
सदा सीव सुचालु सुचालिनी हैं।
भले भूखी रहैं कि चुगैं मुकता,
हम मानस-राज-मरालिनी हैं।
द्विज 'ब्यास' रुचै किहि नीरस ग्यान,
सनेह-सुधा-सर बोरिनी हैं।
तुम ऊधौ! भ्रमौ, भरमौ न इते,
चित-चोरहू की चित-चोरिनी हैं।
घनस्याम-घटा अभिराम की त्यों,
मदमाती सुमंजुल मोरिनी हैं।
पद-पद्म की प्रेमिका भौंरिनी हैं,
नख-चंद की चारु चकोरिनी हैं।

तदुपरान्त ज्ञानी उद्धवकी भाव-भरे शब्दोंमें आलोचना और उपहास करती हुई व्रजाङ्गनाएँ कहती हैं—

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

हैं दुखिया ब्रजबाल सबै तिनमें,
मुखिया मनु होवन आये।
'व्यास' कहैं भले भावन सों घने,
घावन कौन सों धोवन आये।
सत्य सनेह के सागर में गुन-
ग्यान कौ नीर निचोवन आये।
पावन प्रेम की बाटिका में तुम
ऊधौ! बबूरन बोवन आये।

इसके उपरान्त व्रजनन्दनके सम्बन्धमें, जो व्रजाङ्गनाओंके हृदयमें सदैव निवास करते थे, उलाहना देती हुई वे अपने विमल भावोंको व्यक्त करने लगीं—

जोग कौ सोच न सोच वियोग कौ,
सोच न भोग बिभोग भुलानी।
चिंता कहा, भई दूबरी देह,
कहा दुबिधा, भई कूबरी रानी।
'व्यास' न प्रीति-प्रतीति की मीति,
पै स्याम की देखि दसा ये दिवानी।
दाह दहै हियरे में यही,
हियरे बसि कै हियरे की न जानी।

इसके पश्चात् उनकी जो श्यामसुन्दरके प्रति प्रेमकी अनन्य निष्ठा थी, उसका साहसके साथ वे वर्णन करती हैं—

जानत है जग—काँच सो काँच,
अमोलक हीर-कनी सो कनी है।
'व्यास' गुनी उन प्रीति भली,
हम औगुन रीति गनी सो गनी है।
मोहन-तान तनी सो तनी,
हमहू हिय ठान ठनी सो ठनी है।
है उनकी हम सौं न बनी,
हमरी उनसों जो बनी सो बनी है।

इसके अनन्तर वे फिर अत्यन्त कोमल भावात्मक ढंगसे उद्धवजीसे अपने व्यथित हृदयकी दशाका और श्रीकृष्णके द्वारा भेजे हुए योगकी चर्चा करती हैं—

फिरि-फिरि, फेरि-फिरि, हरि-मग हेरि-हेरि—
हारीं जिय, सूखिगौ वियोग जरि नैन-नीर।
प्रेम की पियासी इन ग्वारिन गँवारिन कौं,
जोग उपदेसन पठायौ भलौ बलबीर॥
ऊधव जू! कैसें कै दिखावैं उर चीर तुम्हैं,
तब तुम जानते हमारी ये बिथा अधीर।
हमरौ-सौ हीय होतौ, हीय में जु नैंन होते,
नैंनन कै होतो हीय, हीय में जु होती पीर॥

श्यामसुन्दरके प्रति व्रजाङ्गनाओंका यह अतुलनीय स्नेह देख ज्ञानी उद्धवकी जो दशा हुई, उसका 'व्यास' जीने अत्यन्त कोमलभाव-व्यञ्जनापूर्ण रोचक वर्णन इस प्रकार किया है—

काह कहैं, कछु सोच न पावत,
भावन भाव भए जनु बौरे।
ग्यान-गुमान के दुर्ग ढहे दृढ़,
लागत ऊधव और के औरे॥
'व्यास' कहैं, मन मोद भरे कल
कूल कलिंदजा कुंज के कौरे।
गोपिन की अनपायन पायन की
रज सीस लगावन दौरे॥

ज्ञानी उद्धव जब प्रेम-रसमें विभोर हो व्रजाङ्गनाओंके चरण-स्पर्श करनेको दौड़ते हैं, तब गोपिकाएँ उद्धवजीसे अति विनम्र निवेदन करती हैं—

हाँ-हाँ हमें जनि पाप में ठेलहु,
काह करौ यह ? ग्यान बिसारे।
'व्यास' कहैं, व्रज-बाल गरीबिनी
बैठीं पुनीत प्रतीत सहारे॥
संग रहौ उनके निसि-बासर,
ऊधव जू! यह भाग तुम्हारे।
जैसे सखा सुचि स्याम के हौ तुम,
तैसे ही पावन पूज्य हमारे॥

उद्धवजी श्रीकृष्णके प्रति व्रजाङ्गनाओंके इस स्वाभाविक विशुद्ध तथा अनन्य प्रेमको देखकर विह्वल हो उठे। उनके विमल युगल लोचनोंसे पवित्र स्नेहकी सरिता प्रवाहित होने लगी—

उत्तर देत बन्यौ न कछू,
रहिगे, मन पक न ठकि सुज्ञानी।
'व्यास' कहैं, दृढ़ ग्यान-गुमान के
बाँध बँधी हुती मोद-प्रदानी॥

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

गोपिन की ध्रुव-धारना नेम-
उपासना-चाढ़ बढ़ी सरसानी ।
ऊधव की उर-नेह-नदी नव
नैनन के मग है उमगानी ॥

उद्धवजी जब गोपिकाओंसे विदा माँग, क्षमा याचना करके मथुरा गमन करने लगे, तब व्रजाङ्गनाएँ अपने प्यारे मदन-मोहनके लिये उद्धवजीसे अत्यन्त कोमल-मधुर वाणीसे विनती करने लगीं—

भूलि न जावैं पै राधा की यह जल-भींजी पलकैं ।
कह दीजौ, व्रज-बाल लाल की दरस-लालसा ललक ॥
मोद-बिनोद करैं भावन वह सुखी रहैं, नित-नीकै ।
सुनि-सुनि सुजस सुखी हमहूँ सब साँचहुँ सुख उनहीं के ॥
हाँथ जोर बहु मन-मोहन सौं कह दीजौ यह बिनती ।
किये रहैं दासिन की दासिन की दासिन में गिनती ॥

श्रीउद्धव और व्रजकी व्रजाङ्गनाओंके इस वृत्तान्तमें 'व्यास' जीने जो अनन्य-प्रेमकी पावन पूर्ण निष्ठाका भावात्मक उल्लेख अपनी मधुर वाणीसे व्रजभाषामें छन्दोबद्ध सूक्तियोंद्वारा प्रस्तुत किया है, उसको व्रजभाषा-साहित्यकी अमूल्य निधि कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी ।

स्वप्नकी परिणति

(लेखक—श्रीरामपुनीतजी श्रीवास्तव, एम्० ए०)

उस दिन मेरे सभी सुहृद्-मित्र, सखा-सहेली मेरे पास आये और सबने अपने-अपने सुन्दर सपने मेरे पास रख दिये । सबके सपनोंमें निरालापन था, रंगीनी थी, सौन्दर्य था और ····। सबके सपनोंमें बटोरकर मैंने एक सोनेकी मञ्जूषामें रख दिया और साथ ही अपने सपनेको भी उसीमें डाल दिया ।

रात आयी, चाँद आया । चाँदके साथ ही मैं मञ्जूषा लेकर यमुनाके किनारे पहुँचा । मञ्जूषाको रख दिया । चाँदने मञ्जूषाका पट खोल दिया, सब सपने चमकने लगे, मन्द मधुर वायुके झकोरेसे हिलने लगे । चाँद कोई मन्त्र भुनभुनाता हुआ अपने करोंसे सबको निरखने-परखने लगा । फिर सब सपनोंको एकमें मिलाकर उसने एक लाल डोरेमें बाँध दिया और पटको बंद कर दिया ।

मन्त्रोच्चारण जारी रहा । इस बार जब मञ्जूषाका पट खोला गया तो आश्चर्यसे देखा, सबके सपनोंका विलय हो गया है और सबके सपनोंके स्थानपर दो कमल—नील और पीत—झलक रहे हैं । पर यह क्या ! देखते-देखते उन कमलोंमें दो-दो नील स्निग्ध आँखें झाँकने लगीं । आँखोंके बाद सिर, मुख, गर्दन, छाती, उदर और बाहु आदि सभी अङ्ग प्रकट हो गये । नील कमल एक भव्य श्यामल तरुणके रूपमें बदल गया तथा पीत कमल एक कमनीय गौर तरुणीके रूपमें परिणत हो गया । उनके मुख-मण्डलकी कान्ति और कमनीयता, नेत्रोंकी दीप्ति और सरसता, प्रत्येक अङ्गका गठन अद्भुत था—अलौकिक था । जैसे सारी शोभा और निकाई, समस्त माधुर्य और लुनाई उनके अङ्गोंमें समाहित हो गयी हो !

प्रकृति सज उठी, बाँसुरी बज उठी, पायल झनक उठे, स्नेहका सौरभ गमक उठा । और फिर·······तो क्या सबके स्वप्नोंकी परिणति दो फूल—राधा और कृष्णमें होती है ?

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

कामके पत्र

(१)

भोग प्रारब्धानुसार ही प्राप्त होते हैं

सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । यह सत्य है कि मानवको आर्थिक लाभ-हानि या मान-सम्मानकी प्राप्ति-अप्राप्ति—यथार्थमें सब फलरूप भोग प्रारब्धसे ही मिलते हैं । प्रारब्ध उन कर्मोंका नाम है, जिनका फल मिलना प्रारम्भ हो गया और इस जन्मके लिये पहलेसे निश्चित कर दिये गये । अतएव यह मानना कि हम प्रयत्न करके किसीका अनिष्ट कर देंगे, सर्वथा भ्रम है । अनिष्ट करनेकी इच्छा और चेष्टा करनेपर भविष्यमें अपना अनिष्ट अवश्य होगा; पर उसका अनिष्ट तो तभी होगा, जब उसके प्रारब्धके अनुसार होना होगा । इसी प्रकार हम किसी अवैध कर्मका—झूठ, छल, चोरी, धोखा आदिका आश्रय लेकर अधिक धन कमा लेंगे और अधिक सम्पन्न बन जायँगे—यह सोचना भी भ्रम ही है । अन्तमें तलपटमें उतना ही घाटा-नफा रहेगा, जितना रहना है । बुरे कर्म यदि किये जायँगे तो अपने पल्ले अवश्य बँधेंगें और उनका फल भविष्यमें अवश्य ही भोगना होगा । इसलिये न तो किसीका कभी बुरा करनेकी बात सोचनी चाहिये और न स्वयं ही किसी बुरे कर्मका आश्रय लेना चाहिये ।

एक बात और । दूसरोंके द्वारा अपना कहीं बुरा होता दिखायी पड़े या अपना अनिष्ट दूसरोंके हाथ दिखायी दे तो यह समझना चाहिये कि यह वास्तवमें हमारे ही पूर्वके किये हुए बुरे कर्मका फल है । वे तो इसमें निमित्त बने हैं, जिससे उनको बुरा फल भोगना पड़ेगा; अतएव उनके लिये भगवान्से क्षमा चाहनी चाहिये, न कि उनपर क्रोध करना या उनसे बदला लेनेकी भावना रखनी चाहिये । शेष भगवत्कृपा ।

(२)

संन्यासी त्यागमूर्ति होता है

सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । आपके प्रश्नोंका उत्तर निम्नलिखित है—भगवान् श्रीरामके दर्शन रामकी कृपासे ही हो सकते हैं और उसके लिये अनन्य और तीव्र आकाङ्क्षा होनी चाहिये । भगवान्को प्राप्त करनेकी अनन्य लालसा उत्पन्न होनेपर राग-द्वेष और काम-क्रोध आदि दोष अपने-आप नष्ट हो जाते हैं ।

आप रामायण और सत्यनारायणकी कथा कहते हैं, यह अच्छी बात है । दूसरी आजीविका न हो तो कथापर चढ़े हुए पैसे और वस्त्र आदि लेनेमें आपत्ति नहीं ।

मन्दिरमें भगवान्के श्रीविग्रहपर चढ़ा हुआ पैसा या वस्त्र-फल आदि आप मन्दिरके पुजारी हैं और आपको उसे लेनेका अधिकार है तो आप ले सकते हैं ।

दृढ़ वैराग्य होनेपर संन्यास ग्रहण करनेमें आपत्ति नहीं, पर केवल वेष बदलनेके लिये ही दण्ड धारण करना अनुचित है । माताजी जीवित हों तो उनकी सेवाके लिये संन्यास न धारण करके घरमें रहना लाभदायक है । संन्यासीके लिये स्त्री, धन, मान और संग्रह सर्वथा वर्जित हैं । जो करते हैं, वे संन्यास-धर्मका छेदन करते हैं । संन्यासी सर्वथा त्यागमूर्ति होता है ।

ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्यके यहाँ तो कच्चा भोजन कर सकता है बशर्ते कि वह क्षत्रिय अथवा वैश्य उपनीत हो तथा भोजन शुद्धतासे बनाया गया हो । शेष भगवत्कृपा ।

(३)

गर्भपातको वैध बनाना भयानक पाप है

सम्मान्य ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । जब बुद्धि तमसाच्छन्न हो जाती है, तब बुद्धिके सभी निश्चय विपरीत होते हैं । इस समय हमारा यही हाल हो रहा है । चाहते हैं विकास, प्रकाश, उन्नति, शान्ति, सुख; पर बुद्धिकी तामसिकताके कारण करते हैं

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

उन कार्योंको जिनका अवश्यम्भावी परिणाम है—विनाश, अन्धकार, अधोगति, अशान्ति और दुःख ही। नीयत बुरी नहीं भी है, पर बुद्धि विकृत है। इसी कारण हमारी आज ऐसी-ऐसी योजनाएँ बनती हैं, जिनसे हमारा पतन—विनाश सहज ही हो सकता है।

इन्हीं योजनाओंमें 'परिवारनियोजन' एक है—जिसके परिणामस्वरूप व्यभिचारकी मात्रा बहुत अधिक बढ़ गयी है। अब उससे भी आगे, जनसंख्या न बढ़े, इस उद्देश्यसे गर्भपातको वैध बनानेका प्रयत्न चल रहा है। यह माना कि कहीं-कहीं वैध न होनेके कारण कानून तथा समाजके भयसे गर्भपात कराया जाता है; परंतु उसकी संख्या नगण्य है। ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे गर्भपात न हो, किंतु यह न करके गर्भपातको कानूनी तौरपर वैध बना देना तो वैसा ही है, जैसा हत्या (खून) को वैध बना देना। बड़े मनुष्यकी हत्या भी हत्या है और भ्रूणहत्या भी हत्या ही है। भ्रूणहत्या धार्मिक दृष्टिसे भी बड़ा पाप है। हम अपनेको धर्मनिरपेक्ष कहते हैं, फिर भ्रूणहत्याको कानूनी बनाकर हम धर्मपर प्रत्यक्ष कुठाराघात करने जा रहे हैं—यह निश्चित है।

इसके अतिरिक्त गर्भपात वैध होनेपर व्यभिचार एक साधारण चीज बन जायगी। हमारी देवियोंका गौरवमय सतीत्व और पुरुषोंका संयम—नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। गर्भपातसे स्त्रियोंमें नाना प्रकारके रोग फैल जायँगे। इस प्रकार गर्भपातको वैध बनाना सदाचार, धर्म, नीति, स्वास्थ्य—सभी दृष्टियोंसे सर्वथा हानिकर है।

अतएव मैं इसका समर्थन तो कर ही नहीं सकता, घोर विरोध करता हूँ। आप भी सिर्फ आवेशमें न पड़कर गम्भीरतासे सोचिये—इसमें बुराई-ही-बुराई है। और इसका पक्ष न लेकर स्वयं विरोध कीजिये तथा जनतासे भी विरोध करवाइये, जिससे ऐसा पापपूर्ण तथा पापयोनि कानून न बनने पाये। शेष भगवत्कृपा।

(४)

वैरभावका सर्वथा त्याग कीजिये

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण! आपका पत्र मिला। जहाँतक मेरी समझ है, मैंने शास्त्रोंका जो अभिप्राय समझा है, उसके अनुसार मैं यह बलपूर्वक कह सकता हूँ कि किसी भी प्राणीके प्रति मनमें वैरभाव रखना अपने ही विनाश और पतनका एक प्रधान हेतु है। कोई आपसे वैरभाव रखता हो तो आपको चाहिये कि प्रेम, सेवा तथा सद्व्यवहारके द्वारा उसके वैरभावका नाश करके उसे मित्र बना लें। ऐसा होना सम्भव न समझें तो कम-से-कम अपने मनमें वैरभावका लेशतक न रहने दें। सबमें भगवान् हैं, सभी आपके आत्मा हैं—किससे वैर करेंगे—किसका विनाश चाहेंगे? इस प्रमादका त्याग कीजिये और शीघ्र त्याग कीजिये। मृत्युसे बहुत पहले ही मनसे सारे वैरभावको निकाल दीजिये। मैं यह निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि जो मनुष्य किसीसे मनमें वैर रखकर मरता है, वह मृत्युके अनन्तर घोर नारकीय पीड़ा भोगनेको बाध्य होता है—उसकी बड़ी दुर्गति होती है। वह जीवनभर यहाँ वैरकी अग्निसे जलता रहता है, मृत्युके अनन्तर नरककी भीषण अग्निमें उसे जलना पड़ता है। अतएव अपने भविष्यका विचार करके ही वैरभावका त्याग कर दीजिये।

आपका न किसीने बुरा किया है न कोई कर सकता है। आपका यदि कहीं बुरा हुआ है या आगे होगा तो वह आपके अपने किये हुए कर्मके फलस्वरूप ही होगा; वह दूसरा तो उसमें निमित्त बना है—और इस प्रकार उसने अपना ही बुरा किया है। वह दयाका पात्र है, वैरका नहीं। आप इस विषयपर गम्भीरतासे विचार कीजिये और इस पापके खेतरूप वैरभावको तुरंत मनसे निकाल फेंकिये। भगवान् आपका कल्याण करेंगे। शेष भगवत्कृपा।

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

पवित्र अ… …श सव…

(प्रेषक—श्रीगोवर्धननाथजी क…

शुद्ध और पवित्र अन्तःकरण ही सर्वश्रेष्ठ तीर्थ है। जिसने अपने अन्तःकरणको दोषमुक्त कर निर्मल बना लिया है, प्रभु-प्रेमका सच्चा अधिकारी वही बन सकता है। शुद्ध अन्तःकरणमें ही दिव्य चेतना और विशुद्ध प्रेमकी अभिव्यक्ति हो सकती है। अन्तःकरणकी शुद्धि किये बिना आध्यात्मिक साधनाके सारे प्रयास बेकार हैं; क्योंकि वही उसका मूलाधार है। अन्तःकरणकी शुद्धिका अर्थ है—अपने आन्तरिक और बाह्य दोषोंसे निवृत्ति पा लेना। किसी भी प्राणीके दोष जन्मजात नहीं होते। भौतिक अनात्म वस्तुओंसे सुख-प्राप्तिकी कामनाओंके संकल्प उसे दोषमय बना देते हैं। वह दोषोंको दोष न मानकर गुण मानता है और उनमें रस लेता है। दोषोंमें रस लेनेके कारण वह निरन्तर उनसे सहयोग करता रहता है। फल यह होता है कि वे जीवनसे कभी भी जा नहीं पाते। सांसारिक अनात्म वस्तुओंसे सुख-प्राप्तिकी चाह जीवनमें निरन्तर बढ़ती जाती है और उन्हीं विषयोंका चिन्तन होते रहनेके कारण मन सदैव अशुद्ध बना रहता है। इस अशुद्ध मन और अपवित्र अन्तःकरणसे इस भौतिक जगत्‌के कार्य भले ही चल जायँ, किंतु आध्यात्मिक जगत्‌में एक पग भी चलना असम्भव है। इस अशुद्ध मनको साथ लेकर भौतिक समस्याओंसे त्रस्त आजका मानव सुख और शान्ति प्राप्त करनेके लिये नाना प्रकारके जप, तप, व्रत, उपवास, यज्ञ, अनुष्ठान और हजारों मीलकी तीर्थ-यात्रापर यहाँसे वहाँ जाता है; किंतु उसे शान्ति नहीं मिलती। शान्ति मिले भी तो कैसे? मूलमें अन्तःकरण तो विषयोंके निरन्तर सङ्ग-दोषके कारण अशुद्ध बना हुआ है। चूँकि सांसारिक विषय अपनेमें अपूर्ण हैं, असत् हैं, इसलिये वे प्राणीको दुःख और अशान्ति ही दे सकते हैं। मूलमें अशान्तिका भंडार रखकर वह बाह्य उपकरणोंसे शान्तिकी आशा लगाता है, जो मात्र दुराशा होती है।

इसलिये आ… …कि साधनाके प्रयासको केन्द्रीभूतकर सारी … अन्तःकरणकी शुद्धिमें ही लगायी जाय। साधनाके पथमें बस, इतना ही करना है। इसके बाद तो करनेकी बात समाप्त हो जाती है और साधनाका पथ स्वयं ही प्रशस्त होता जाता है। विषयोंका चिन्तन छूटते ही भगवत्-चिन्तन आरम्भ हो जाता है और जीवन विशुद्ध प्रेम और आनन्दसे परिपूर्ण होने लगता है।

अब प्रश्न यह है कि अन्तःकरण शुद्ध कैसे हो। अन्तःकरणकी अशुद्धिका मूल कारण है—देह-भाव। देह-भावसे भावित होकर प्राणी संसारकी सत्ता स्वीकार करता है और भ्रमवश असत्‌में सत्‌की प्रतीति कर लेता है। इस प्रतीतिके कारण ही वह सांसारिक अनात्म वस्तुओंसे अपना सम्बन्ध जोड़ बैठता है। चूँकि वे वस्तुएँ अनात्म और नश्वर होती हैं, इसलिये वे उसे सुख नहीं दे सकतीं और वह उनसे ही सुख-प्राप्तिकी आशामें अंधा होकर जीवनभर उन्हींके पीछे भागता फिरता है। उन वस्तुओंमें उसकी आसक्ति हो जाती है और वह अहर्निश उन्हींका चिन्तन करता रहता है। उनका चिन्तन करते रहनेके कारण उसका अन्तःकरण सदा अशुद्ध बना रहता है। अशुद्ध अन्तःकरणमें भगवद्भक्तिका बीज जम नहीं सकता। तो अब आवश्यकता है कि अशुद्धिके मूल अपने देह-भावको ही नष्ट कर दिया जाय। देह-भावके नष्ट होते ही असत्‌में सत्‌की प्रतीति समाप्त हो जायगी। संसारकी वास्तविकताका ज्ञान होते ही सांसारिक पदार्थोंमें आसक्ति भी न रहेगी। पदार्थों और विषयोंकी आसक्तिके अभावमें उनके चिन्तनका प्रश्न भी न उठेगा और मन सर्वथा शुद्ध और निर्मल बना रहेगा। निर्मल मन ही भगवद्-भक्तिका धरातल बनेगा। रामायणमें स्पष्ट कहा है—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा।

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

इसलिये सदा-[illegible] अवश्यम्भावी परिणाम [illegible]रक्खो। मूल है अन्तःकरणकी [illegible]न्ति, अशान्ति और [illegible]ना प्रकारके कुत्सित विचारों, राग-द्वेष, बुद्धि विकृतत्व, घृणा और वैरके रहते हुए आनन्दमय प्रभुको प्रकट करनेकी चाह बालूपर भीत बनानेके समान है। वह परमपावन कल्याणमय प्रभु धोखा-धड़ी और नाना प्रकारके प्रपञ्चोंसे प्राप्त किया जानेवाला नहीं है। उसके लिये दर-दर भटकनेकी भी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है तो, बस, इतनी ही कि उसके अवतरण-स्थल—अपने अन्तःकरणको उसके अनुरूप बना दो, फिर वह समस्त विघ्न-बाधाओं-को समाप्तकर तुम्हारे पास चला आयेगा।

यहाँपर मेरा तात्पर्य जप, तप, व्रत, तीर्थ आदिकी अवहेलना करना नहीं है, वरं उनकी वास्तविकता बताना है। ये जप, तप, व्रत, तीर्थ—सब अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये हैं। स्मरण रक्खो—यदि इनसे अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं होती तो ये बेकार हैं; क्योंकि आध्यात्मिक जीवनमें इनका अन्य कोई उपयोग नहीं है। भगवान्‌ने गीतामें स्पष्ट घोषणा की है—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।

मैं वेद, दान, तप और यज्ञसे नहीं जाना जाता।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

केवल अनन्य-भक्तिसे मुझे जाना जा सकता है, मुझे देखा जा सकता है तथा मुझमें समाविष्ट हुआ जा सकता है।

यह तो हुई तत्त्वकी बात; किंतु मुख्य प्रश्न यह है कि यह अनन्य-भक्ति होगी कैसे। नाना प्रकारके राग-द्वेष और मानसिक हलचलोंके होते हुए अनन्य-भाव उत्पन्न कैसे होगा? देह-भावसे भावित होकर बुद्धि जब विषमताकी स्थितिमें रहेगी, विषयोंमें आसक्ति रहनेके कारण मनमें उनका चिन्तन होता रहेगा, देहकी मान्यताके [illegible]गकी रुचि और भोक्ता-भाव बना रहेगा, ऐसे जीवनमें अनन्य-भावका प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

अनन्य-भावकी प्राप्ति ही प्राणिमात्रका अन्तिम लक्ष्य है। यह अनन्य-भाव है क्या? भक्ति-योगकी दृष्टिसे रामायणमें इसका निरूपण इस प्रकार किया गया है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

परंतु जीवनमें यह अनन्य-भाव तभी आयेगा, जब जीवनमें पूरी तरह निर्दोषता आ जायगी। जीवनमें निर्दोषता आते ही सांसारिक विषय लुप्त हो जायँगे। सांसारिक विषयोंके हटते ही मनसे उनका चिन्तन भी समाप्त हो जायगा। चिन्तन समाप्त होते ही बुद्धिसे विषमता दूर होकर समता आ जायगी और जीवनमें समता आते ही योग अपनी पूर्णावस्थापर पहुँच जायगा। योगकी पूर्णावस्थामें मन समस्त कामनाओं और संकल्पोंसे निवृत्त होकर निर्मल हो जायगा। मनके निर्मल और पवित्र होते ही उसमें विशुद्ध प्रेमकी अभिव्यक्ति हो जायगी। यह विशुद्ध प्रेम ही समस्त असत् मान्यताओंको समाप्तकर अनन्य-भाव उत्पन्न कर देगा।

इसीलिये शुद्ध और पवित्र अन्तःकरणको ही सर्वश्रेष्ठ तीर्थ कहा है, जो विशुद्ध प्रेम और अनन्य-भक्तिका आधार है।

'शुद्ध और पवित्र अन्तःकरण ही सर्वश्रेष्ठ तीर्थ है, ज्ञानाग्निमें अपने समस्त विकारोंको स्वाहा कर डालना ही सर्वोपरि यज्ञ है; अन्तःकरणकी पवित्रताके हेतु जो प्रयास किया जाता है, वही वास्तविक धार्मिक अनुष्ठान है; निःस्वार्थ प्रेमकी पवित्र जलधारामें डुबकी लगाना ही सच्चा गङ्गा-स्नान तथा घट-घटमें विराजमान रामरूपी आत्माको पहचानकर अपने सहज-स्वरूपको प्राप्त कर लेना जीवनकी सर्वोत्तम उपलब्धि है।'

—पूज्य स्वामी योगिराजजी महाराज द्वाराधीश्वर

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

हो गये।
नदारके

...ता था। दो...
...चालू होता था औ...
...ठ-साहूकार तफरीके लिये निकल...
तो जवाहरात तो क्या, सोने-चाँदीके सराफ...
अच्छा नहीं मानते। सरकारी नियन्त्र...
सोनेकी धोखा-धड़ीमें कई सराफ पिट ग...
व्यवसायको, चाहे वह कैसा भी हो...
अच्छी नजरसे देखने लगे। जवाहरात बेचना...
अब कोई खास महत्त्व नहीं रखता। पर उन...
रजवाड़ोंके साथ-साथ विदेशी मेहमान भी ही...
खरीदीका शौक रखते थे तथा इस प्रकारके व्य...
साहूकारोंको मुनाफा भी खासा मिलता था।

दूकानें खुल चुकी थीं; पर अधिकांश दूकानोंपर सेठ लोग नहीं आये थे। एक अमेरिकन ग्राहक ...मसे पर गया तथा हीरेके लिये माँग की। मुनी...तथा कीमतें निकालकर छोटे-बड़े ... नग ... किया तथा उसकी बतलायीं। अमे... और नग माँगा। मुनीमजीने असमर्थता प्रकट जोड़का ... तो मुनीमजीके कहे अनुसार उस हीरेकी कीमत ३८००) देकर बहीमें नाम-पता लिखाकर अमेरिकन चला गया।

सेठ दूकानपर आये तो मुनीमने हीरा बेचनेकी बात सुनायी। ३८००) में बेचनेकी बात सुनकर सेठ उदास हो गये, उन्होंने अमेरिकनका नाम-पता देखा तथा वे उससे मिलनेके लिये रवाना हो गये।

मुनीमको यह अच्छी तरह ज्ञात था कि इस सौदेमें पेढ़ीको पूरा-पूरा मुनाफा मिला है; फिर भी सेठके इस प्रकार अचानक चले जानेपर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ।

सेठ उस होटलमें पहुँचे, जहाँ वह अमेरिकन ठहरा था तथा अपना नाम-पता लिखकर चिट कमरेमें भिजवाया। अमेरिकनने मिलनेसे इसलिये इनकार कर दिया कि

...ति...
२३००...
१५००) वापस करने ... आया हूँ।

अमेरिकन यह सब सुनकर स्तब्ध रह गया। वह तो सोचता था कि यह हीरा अधिक कीमतका है, पर यह सच्चा ईमानदार व्यापारी तो कम कीमत बताकर १५००) वापस करने आया है। अमेरिकनने उस व्यापारीसे कहा कि ये रुपये आपको मैं आपकी ईमानदारीके बदले देता हूँ। पर सेठने एक नहीं सुनी तथा रुपये अमेरिकनको दे दिये। उस विदेशीने अपने क्षेत्रमें इस भारतीय ईमानदार व्यापारीकी खूब प्रशंसा की। नतीजा यह हुआ कि आगामी वर्ष उस व्यापारीके पास इतने आर्डर आये, जो साधारणतया शायद उसे आगामी दस वर्षमें भी न मिलते एवं इस प्रकार उसकी पेढ़ी उस बाजारमें जवाहरातकी एक प्रमुख पेढ़ी बन गयी।

—मोतीलाल सुराना

(२)

मित्रका ऋण

उनका नाम भरतदास था। लोग उनको 'बाबा' या

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

इसलिये सदा-... अवश्यम्भावी परिणाम रक्खो। मूल है अन्तःकरणकी ...ति, अशान्ति और ...ना प्रकारके कुत्सित विचारों, राग-द्वेष,बुद्धि विकृत..., घृणा और वैरके रहते हुए आनन्दमय प्रभुको बना करनेकी चाह बालूपर भीत बनानेके समान है। वह परमपावन कल्याणमय प्रभु धोखा-धड़ी और नाना प्रकारके प्रपञ्चोंसे प्राप्त किया जानेवाला नहीं है। उसके लिये दर-दर भटकनेकी भी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है तो, बस, इतनी ही कि उसके अवतरण-स्थल—अपने अन्तःकरणको उसके अनुरूप बना दो, फिर वह समस्त विघ्न-बाधाओं-को समाप्तकर तुम्हारे पास चला आयेगा।

यहाँपर मेरा तात्पर्य जप, तप, व्रत, तीर्थ आदिकी अवहेलना करना नहीं है, वरं उनकी वास्तविकता बताना है। ये जप, तप, व्रत, तीर्थ—सब अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये हैं। स्मरण रक्खो—यदि इनसे अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं होती तो ये बेकार हैं; क्योंकि आध्यात्मिक जीवनमें इनका अन्य कोई उपयोग नहीं है। भगवान्‌ने गीतामें स्पष्ट घोषणा की है—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया

...गकी रुचि और भोक्ता-भाव बना रहेगा, ऐसे जीवनमें अनन्य-भावका प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

अनन्य-भावकी प्राप्ति ही प्राणिमात्रका अन्तिम लक्ष्य है। यह अनन्य-भाव है क्या ? भक्ति-योगकी दृष्टिसे रामायणमें इसका निरूपण इस प्रकार किया गया है—

> सो अनन्य ...रीऽ मति न टरइ हनुमंत।
> मैं सेवक ...ंसा कर स्वामि भगवंत॥

परंतु जी... नहीं। ... आयेगा, जब जीवनमें पू...

निर्दोषता ...

सांसारिक ...

समाप्त हो...

विषमता ...चेगा।

समता ...

योग ...

नि...

...पर नयी आफत टूट पड़ी। घर-घर ... बनने लगे। महामारीके प्रकोपको रोकनेका ...झ नहीं पड़ता था। लाचार होकर सब लोग ... रहे थे कि कब यमदूत आयेगा और ...

...रके परिवारमें उसकी माँ, पत्नी, एक ढाई ...ड़की, छः महीनेका लड़का और स्वयं—कुल ...प्राणी थे। वह और भरतदास घर-घर घूमते थे; जहाँतक जानकारी होती, लोगोंकी दवा करते और लोगों-को भगवान्‌पर भरोसा रखनेके लिये समझाते थे।

लिये ...ह सरल ... बहुत था और पढ़ा-लिखा थोड़ा ही था; परंतु ब्राह्मण होनेके कारण दो-चार गलत-सही श्लोक बोलना जानता था और नियमित रूपसे पूजा-पाठ करता था। गाँवमें कोई ब्राह्मण न था। इसलिये गाँवके लोगोंने उसको पुरोहितके रूपमें गाँवमें बस जानेके लिये आग्रह किया। भरतदासके साथ उसका प्रेम-भाव था; इसलिये गाँववालोंके आग्रहको सिर चढ़ाकर वह उसी गाँवमें रहने लगा और जब नौकरीसे अवकाश प्राप्त हो गया तो वहाँ ही बस गया। नाम था उसका रविशंकर, परन्तु गाँवके लोग उसको *रवा गोर कहकर पुकारते थे।

समय बीतते-बीतते भरतदास और 'रवा गोर' की मैत्री प्रगाढ़ होती गयी। इस प्रकार पाँच वर्षके लगभग बीत गये। भरतदास टाइफाइड ज्वरसे आक्रान्त हो गये। उस समय रवा गोरने मित्र-प्रेमकी पराकाष्ठा कर दिखायी। चौबीसों घंटे बाबा भरतदासके पास एक पैरपर खड़ा रहता।

परंतु अब रविशंकरकी बारी आयी। पहले दिन माँ और दूसरे दिन पत्नी चल बसी। तीसरे दिन गोरकी ...... घड़ी आ ...। भरतदास बगलमें बैठे-बैठे डबडबायी आँखोंसे देख रहे ...। गोरने अपने सामने और बगलमें बैठे अपने असहाय बालकों और दुःखभरी दृष्टिसे देखा। भरतदास रवा गोरके मनकी व्यथाको समझ गये और गद्गद कण्ठसे बोले—"रवा गोर ! मैं हूँ न ! मत घबराओ। मैं तुम्हारे बालकोंका बाप और माँ—दोनों बनूँगा। रामजीकी दयासे इनको कोई भी कमी न रहेगी।" बाबा भरतदास अधिक बोल न सके। अन्ततः रविशंकरके प्राण-पखेरू उड़ गये।

भरतदासने लड़कोंकी देख-रेखमें कोई कसर न की। जब समय आया, तब दोनों लड़के-लड़कीका बड़े धूम-धामसे विवाह किया। लड़कीको अपने माँ-बापसे सामान्यतः जो मिलता, उसकी अपेक्षा कईगुना अधिक प्राप्त हुआ। लड़केके रहनेके लिये अच्छा घर बनवा दिया और जमी... खरीद कर दी। अपनी शक्तिके अनुसार उसे पढ़ा... लिखाया !

* रवा गोरका अर्थ है रविपुरोहित।

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

त्यधिक घाटा

खराब हो चुकी थी। डा

भी मातृहीन उस तुरंतके ज

उसके लिये परम दुष्कर था अधीर होकर

देखकर बाजारके बहुत-से हिंदूमुसल्मान स्त्री-पुरुष वहाँ इकट्ठे हो गये और नीरूको समझाने-बुझाने लगे, किंतु नीरूको शान्ति नहीं मिली और उसका रोना बंद नहीं हुआ।

नीरूके घरके समीप ही एक व्रजवासी ग्वालाका घर था। ग्वाला उस समय कहीं बाहर गया हुआ था, उसकी पत्नी घरपर ही थी। उसे भी पाँच दिन पहले प्रथम-प्रथम एक पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई थी। नीरू भाईका रोना सुनकर वह बहुत दुखी हो रही थी, किंतु तुरंतकी प्रसूता होनेके कारण घरसे बाहर जानेमें असमर्थ थी। अन्तमें उसने अपनी दाईसे कहा कि 'तुम जाकर नीरू भाईसे कहो—घबरायें नहीं, उस लड़केको दूध पिलाने तथा उसकी सारी देख-रेख करनेका कुल भार मुझपर है। उस बच्चेको किसी तरह लाकर मेरे समीप रख दो; मैं समझूँगी कि मुझे एक नहीं, दो बच्चे साथ हुए हैं।'

लग

रहनेपर

आनेके

नीरूको रोते देख

'जान पड़ता

थे, किसी कारणवश इन्हें पृथक

अब संयोगसे फिर सब एकत्र हो गये हैं।'

बड़ी कठिनतासे उन लोगोंसे विदा लेकर नीरू अपने घर चला आया, किंतु घर आ जानेपर भी उसका मन उन ग्वाला-दम्पति (ग्वाला और ग्वालिन) से किसी क्षण अलग नहीं होता था। समय-समयपर अपने पुत्रको उन दोनोंके द्वारा पाले-पोसे जानेकी मधुर कथा गद्गद होकर सुनाया

इसलिये सदा-... अवश्यम्भावी परिणाम रक्खो। मूल है अन्तःकरणकी ...ति, अशान्ति और ...ना प्रकारके कुत्सित विचारों, राग-द्वेष, बुद्धि विकृत..., घृणा और वैरके रहते हुए आनन्दमय प्रभुको बना करनेकी चाह बालूपर भीत बनानेके समान है। वह परमपावन कल्याणमय प्रभु धोखा-धड़ी और नाना प्रकारके प्रपञ्चोंसे प्राप्त किया जानेवाला नहीं है। उसके लिये दर-दर भटकनेकी भी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है तो, बस, इतनी ही कि उसके अवतरण-स्थल—अपने अन्तःकरणको उसके अनुरूप बना दो, फिर वह समस्त विघ्न-बाधाओं-को समाप्तकर तुम्हारे पास चला आयेगा।

यहाँपर मेरा तात्पर्य जप, तप, व्रत, तीर्थ आदिकी अवहेलना करना नहीं है, वरं उनकी वास्तविकता बताना है। ये जप, तप, व्रत, तीर्थ—सब अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये हैं। स्मरण रक्खो—यदि इनसे अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं होती तो ये बेकार हैं; क्योंकि आध्यात्मिक जीवनमें इनका अन्य कोई उपयोग नहीं है। भगवान्ने गी... लिये ... घोषणा की है—

...ह सरल बहुत था और पढ़ा-लिखा थोड़ा ही था; परंतु ब्राह्मण होनेके कारण दो-चार गलत-सही श्लोक बोलना जानता था और नियमित रूपसे पूजा-पाठ करता था। गाँवमें कोई ब्राह्मण न था। इसलिये गाँवके लोगोंने उसको पुरोहित... रूपमें गाँवमें बस जानेके लिये आग्रह किया। भरत... साथ उसका प्रेम-भाव था; इसलिये गाँववालोंके आग्र... चढ़ाकर वह उसी गाँवमें रहने लगा और ... तो ...हब ... ...काश प्राप्त हो गया तो वहाँ ही बस ग...

...नहीं, कई ... ...की दवाएँ की थीं; पर किसीसे कुछ भी लाभ न हुआ।' डाक्टर बोले, 'अच्छा, यह तो कहो—तुम्हारे प्रथम पुत्रके जन्मके समय दूधके स्थानपर किसी प्रकारकी कोई खराबी—(जैसे घाव हो जाना, दूध सूख जाना, बार-बार दूध निकलते रहना आदि) हुई थी क्या ?' ग्वालिन बोली—'जी नहीं; पर एक बात मुझे याद है कि हम जिस मुहल्लेमें रहते थे, उसीमें हमारे

...गकी रुचि और भोक्ता-भाव बना रहेगा, ऐसे जीवनमें अनन्य-भावका प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

अनन्य-भावकी प्राप्ति ही प्राणिमात्रका अन्तिम लक्ष्य है। यह अनन्य-भाव है क्या ? भक्ति-योगकी दृष्टिसे रामायणमें इसका निरूपण इस प्रकार किया गया है—

सो अनन्य जा... ...ति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक ... ...सा ... भगवंत॥

परंतु जीव... ...नहीं। ...गा, जब जीवनमें पूरी... ...पर नयी आफत टूट पड़ी। घर-घर निर्दोषता ... बनने लगे। महामारीके प्रकोपको रोकनेका सांसारिक ... नहीं पड़ता था। लाचार होकर सब लोग समाप्त हो... रहे थे कि कब यमदूत आयेगा और विषमता ... बोचेगा।

समता ...रके परिवारमें उसकी माँ, पत्नी, एक ढाई योगकी ...लड़की, छः महीनेका लड़का और स्वयं—कुल ...प्राणी थे। वह और भरतदास घर-घर घूमते ... जहाँतक जानकारी होती, लोगोंकी दवा करते और ... भगवान्पर भरोसा रखनेके लिये समझाते थे। ... तो

माँ ... और अब रविशंकरकी बारी ... कम्पाउन्डरने दि... दो सौ... ...दिन ... पर इसके लिये मैं कम-से-... ...पड़ी। इसपर डाक्टरने कम्पाउन्डरसे ...हा—'क्या तुम मजाक करने चले हो ?' कम्पाउन्डरने कहा—'जी नहीं, मैं सच कहता हूँ—मुझे दो सौ रुपयोंकी अत्यन्त आवश्यकता है। इससे मैं मर जाऊँगा थोड़े ही, मेरे शरीरमें पूरा खून है।' अब डाक्टर साहबने ग्वालेसे कहा 'क्योंजी ?' 'डाक्टर ...हब ! मैं तैयार हूँ'—कहकर उस ग्वालेने दो सौ रुपये तुरंत कम्पाउन्डर साहबको दे दिये। चिकित्सा प्रारम्भ हो गयी, रक्त चढ़ाया गया। दवा ...लगी। कुछ ही दिनों घाव अच्छा हो गया। ...दिया प्रसन्न होकर अस्पतालके कर्मचारियोंको इनाम भाई-बन्धुओंसे ... वह अपने घर चला आया। तदनन्तर ...दर कुछ दिनों बाद वह अपने कामपर ग्वालपाड़ा चला गया। ग्वालपाड़ा पहुँचनेके दस दिनके बाद ही ग्वालाके नाम ... एक हजारकी एक बीमा आयी, साथ ही एक पत्र मिला। पत्रमें लिखा था—

'परम पूज्य पिताजी तथा परम पूजनीया श्रीमाताजी !

दे

समा

खान

आने

शुद्ध

है, व

मछली,

वस्तुओंक

छोड़ दिया ... न जा रक्त

आपके शरीरमें प्रवेश ... नके लि... दिया है, वह शुद्ध रक्त है। उसमें कहीं अपवित्रता नहीं है। आपके यहाँ सीखकर आया हुआ मैं प्रतिदिन गीताका पाठ करता हूँ; मेरे तन-मनमें, भला, मल कैसे रहेगा? आगे भगवान्‌की जैसी कृपा हो।

आपका प्यारा पुत्र,

अहमद, कम्पाउन्डर

पत्र पढ़कर दम्पति (ग्वाला पति-पत्नी) अवाक् रह गये, उनकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह चली। तदनन्तर ग्वालेने निम्नलिखित उत्तर लिखा—

प्रिय पुत्र अहमद,

शुभाशीर्वाद।

आगे हमलोग सकुशल हैं। तुम्हारी कुशलताके लिये प्रतिपल परमेश्वरसे प्रार्थना करते हैं। तुम्हारे भेजे हुए

जोशीकी देखरेख प...

चलता है।

इस गाँवका ए...

परिवारमें जन्मदि...

उस प...

११) २१)...

आते हैं। ...

बहुत इच्छा...

सकुचा जा...

रकम गरी...

अनेक मनी...

मालिकका ...

पत्र मिल...

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi

इसलिये सदा-[illegible] अवश्यम्भावी परिणाम [illegible] रक्खो। मूल है अन्तःकरणकी [illegible]ति, अशान्ति और [illegible]ना प्रकारके कुत्सित विचारों, राग-द्वेष, बुद्धि विकृत्य, घृणा और वैरके रहते हुए आनन्दमय प्रभुकेँ बना[illegible] करनेकी चाह बालूपर भीत बनानेके समान है। वह परमपावन कल्याणमय प्रभु धोखा-धड़ी और नाना प्रकारके प्रपञ्चोंसे प्राप्त किया जानेवाला नहीं है। उसके लिये दर-दर भटकनेकी भी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है तो, बस, इतनी ही कि उसके अवतरण-स्थल—अपने अन्तःकरणको उसके अनुरूप बना दो, फिर वह समस्त विघ्न-बाधाओं-को समाप्तकर तुम्हारे पास चला आयेगा।

यहाँपर मेरा तात्पर्य जप, तप, व्रत, तीर्थ आदिकी अवहेलना करना नहीं है, वरं उनकी वास्तविकता बताना है। ये जप, तप, व्रत, तीर्थ—सब अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये हैं। स्मरण रक्खो—यदि इनसे अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं होती तो ये बेकार हैं; क्योंकि आध्यात्मिक जीवनमें इनका अन्य कोई उपयोग नहीं है। भगवान्ने गीता[illegible] लिये [illegible]ष्ट घोषणा की है— [illegible] द सरल

बहुत था और पढ़ा-लिखा थोड़ा ही था; परंतु ब्राह्मण होनेके कारण दो-चार गलत-सही श्लोक बोलना जानता था और नियमित रूपसे पूजा-पाठ करता था। गाँवमें कोई ब्राह्मण न था। इसलिये गाँवके लोगोंने उसको पुरोहितके रूपमें गाँवमें बस जानेके लिये आग्रह [illegible] साथ उसका प्रेम-भाव था; इसलिये गाँववालों[illegible] चढ़ाकर वह उसी गाँवमें रहने लगा अ[illegible] अवकाश प्राप्त हो गया तो वहाँ ही बस ग[illegible]

[illegible] कई [illegible] की दवाएँ की थीं; पर[illegible] कुछ भी लाभ न हुआ।' डाक्टर बोले, 'अच्छा, [illegible] कहो—तुम्हारे प्रथम पुत्रके जन्मके समय दूधके स्था[illegible] किसी प्रकारकी कोई खराबी—(जैसे घाव हो जाना, [illegible] सूख जाना, बार-बार दूध निकलते रहना आदि), हुई थी क्या?' ग्वालिन बोली—'जी नहीं; पर एक बात मुझे याद है कि हम जिस मुहल्लेमें रहते थे, उसीमें हमारे

[illegible]ागकी रुचि और भोक्ता-भाव बना रहेगा, ऐसे जीवनमें अनन्य-भावका प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

अनन्य-भावकी प्राप्ति ही प्राणिमात्रका अन्तिम लक्ष्य है। यह अनन्य-भाव है क्या? भक्ति-योगकी दृष्टिसे रामायणमें इसका निरूपण इस प्रकार किया गया है—

सो अनन्य जा[illegible] [illegible]राउति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक [illegible] [illegible]ांसा कर[illegible]ामि भगवंत॥

परंतु जीव[illegible] नहीं। [illegible]ेगा, जब

जीवनमें पूरी [illegible]पर नयी आफत टूट पड़ी। घर-घर निर्दोषिता [illegible] बनने लगे। महामारीके प्रकोपको रोकनेका सांसारिक [illegible]झ नहीं पड़ता था। लाचार होकर सब लोग समाप्त हो [illegible] रहे थे कि कब यमदूत आयेगा और विषमता [illegible]बोचेगा। समता [illegible]रके परिवारमें उसकी माँ, पत्नी, एक ढाई योगकी [illegible]ड़की, छः महीनेका लड़का और स्वयं—कुल नि[illegible] प्राणी थे। वह और भरतदास घर-घर घूमते [illegible] जहाँतक जानकारी होती, लोगोंकी दवा करते और [illegible] भगवान्पर भरोसा रखनेके लिये समझाते थे। [illegible] तो

माँ ओ[illegible] रविशंकरकी बारी [illegible] कम्पाउन्डरने दिन [illegible] दिन [illegible]र इसके लिये मैं कम-से- [illegible] दो सौ [illegible]ड़ी इसपर डाक्टरने कम्पाउन्डरसे [illegible]—'व प्रशंसना[illegible] चले हो?' कम्पाउन्डरने कहा— युगमें।

—सुरेन्द्रकुमार जैन 'टोहा[illegible]

रसभरी राधिका

[illegible] रसभरी।
[illegible] साँवरे की प्रानजीवनि-जरी॥
[illegible]ग अद्भुत सुरहि रंगन ररी।
[illegible]ोरी सुभग साँचे ढरी॥
[illegible]र-पयोनिधि परी।
[illegible] निज सहचरी॥

—[illegible]ल्यास देवाचार्यजी

CC-0. Digitized by eGangotri. Kamalakar Mishra Collection, Varanasi